

भारत की राष्ट्रीय एकता : बुनियाद एवं चुनौतियाँ

संस्करण : प्रथम
जुलाई २०१६

सहयोग राशि - २० रुपये मात्र

सम्पादक :
राकेश कुमार सिन्हा

पुस्तक प्राप्ति स्थान :-

1. स्वराज अभियान, ए-189
सेक्टर 43, नोएडा-201301
उत्तर प्रदेश।
मो:- 0721022333
2. एस. 26/238 एच. गौतम
विहार, मीरापुर बसहीं,
वाराणसी-221002
मो0 : 09616003829

प्रकाशक :
सोमनाथ त्रिपाठी, स्वराज अभियान, वाराणसी।

मुद्रक :
राज प्रिन्टिंग प्रेस
वाराणसी।

अनुक्रमणिका

1. काशी संकल्प	4
2. क्या अमन के अलावा भी हमारे देश और समाज के लिए कोई रास्ता है? - आनन्द कुमार	6
3. भारत की राष्ट्रीय एकता : बुनियाद एवं चुनौतियाँ - राकेश कुमार सिन्हा	8
4. सांप्रदायिकता और इस्लाम - असगर अली इंजीनियर	22
5. सच्ची सांप्रदायिकता बनाम झूठा सेक्यूलरवाद - योगेन्द्र यादव	44
6. साम्प्रदायिकता (परीक्षा का समय) - गणेश शंकर विद्यार्थी	53
7. धार्मिक राष्ट्रीयता बनाम आर्थिक राष्ट्रवाद - किशन पटनायक	68



काशी संकल्प

(स्वराज अभियान की अमन कमेटी के दो दिवसीय राष्ट्रीय सम्मेलन में दिनांक 17 जुलाई 2016 को पारित प्रस्ताव)

आज देश भर से अमन कमेटी (स्वराज अभियान) के बैनर तले हम सब नागरिक एकत्रित हुये हैं, जो –

- ◆ भारतीय संविधान में आस्था रखते हैं।
- ◆ सभी पंथ और मतावलम्बियों को समान अधिकार और सम्मान देने के लिये प्रतिबद्ध विविधतापूर्ण भारत के सपने से जुड़े हैं।
- ◆ अल्पसंख्यकों के धार्मिक-सांस्कृतिक अधिकारों और देश के विकास में न्यायपूर्ण हिस्सेदारी के लिये कटिबद्ध हैं।
- ◆ विविधतापूर्ण सांस्कृतिक परम्पराओं में गर्व महसूस करते हैं।

यह हमारा दृढ़ विश्वास है कि पंथ-धर्म-मत को सम्मान देकर ही भारत की राष्ट्रीय एकता की रक्षा की जा सकती है।

आज हम सब देश भर में बताये जा रहे असहिष्णुता के माहौल और साम्प्रदायिक तनाव पर गहरी चिंता व्यक्त करते हैं, आज संविधान में निहित सर्वधर्म समभाव का आदर्श संकट में है।

बार-बार छोटी बड़ी घटनाओं के जरिये अल्पसंख्यकों, खासतौर पर मुसलमानों के लिये दशहत का माहौल बनाया जा रहा है। अफवाहों और मीडिया के जरिये पूरे समाज में साम्प्रदायिकता का जहर घोला जा रहा है, अल्पसंख्यकों को दोयम दर्जे का नागरिक बनाने की इस कोशिश को केन्द्र सरकार से सह और समर्थन मिल रहा है, शिक्षा और संस्कृति की सरकारी संस्थाओं में साम्प्रदायिक सोच वाले ऐसे लोग भरे जा रहे हैं जो संविधान में आस्था नहीं रखते हैं। संवैधानिक ढाँचे और उसमें निहित भारत के सपने को स्थायी क्षति होने का खतरा देश के सामने पेश है।

इस खतरे का सामना करने के लिये भारतीय संवैधानिक मूल्यों को जनमत में बचाये रखना एक सतत् चुनौती है। आजादी के बारे में, खासतौर पर पिछले पच्चीस सालों में, हम इस चुनौती के सामने कमजोर साबित हुये हैं। इस चुनौती का सामना करने की जिम्मेदारी संभालने वाली सेक्यूलर राजनीति कमजोर, अवसरवादी और पथभ्रष्ट हुयी है। सेक्यूलर राजनीति का दावा करने वाली अधिकांश पार्टियाँ अल्पसंख्यकों को बँधुआ बनाकर उनके वोटों के दोहन में लगी हैं। ऐसे में एक ओर तो संघ परिवार और भाजपा घृणा की राजनीति फैलाने में सफल हुयी है, अल्पसंख्यकों में व्याप्त भय का दोहन करते हुये मुस्लिम साम्प्रदायिक पार्टियाँ अपना सिर उठा रही हैं। मुस्लिम युवाओं में अलगाववाद पनपने लगा है।

आज की यह चुनौती भारत के सपने को पुनर्जीवित करने का एक अनूठा अवसर भी है। यह हम सब के लिये व्यक्ति के नाते, आस्था समूह के सदस्य के नाते और नागरिक के नाते सबसे बड़ा धर्म है।

अमन कमेटी द्वारा आयोजित इस दो दिवसीय राष्ट्रीय अमन सम्मेलन में आये हम सब अमन के सिपाही, इस देश-धर्म के प्रति अपने आपको पूरी तरह समर्पित करते हैं। कबीर की नगरी में हम सब संकल्प लेते हैं कि हम हर कीमत पर गंगा-जमुनी संस्कृति से पैदा हुये भारत के इस सपने की रक्षा करेंगे।

आज अतीत के अँधेरे की ओर झांकने की बजाय भविष्य के उजाले को देखने और उसे बनाने का वक्त है। इसके लिये जरूरी है कि हम संवैधानिक मूल्यों को जनता की भाषा में, जनता के मुहावरे में जनता के पास लेकर जायें। हमारी परम्पराओं में निहित हमारी सांस्कृतिक विरासत जड़ नहीं है। हर धर्म और पंथ के भीतर शुभ-अशुभ के बीच संघर्ष चलता रहता है। आज हमें अपनी इस विरासत से सीखते हुये, उसके प्रतीकों और भाषा का प्रयोग करते हुये धार्मिक और सांस्कृतिक सहिष्णुता का प्रचार-प्रसार करने की जरूरत है, साथ ही हमें इस प्रयास को एक संगठित स्वरूप देने की जरूरत है।



क्या अमन के अलावा भी हमारे देश और समाज के लिए कोई रास्ता है?

- आनन्द कुमार

भारत एक बार फिर सत्ता की भूल-भुलैया में फँस गया समाज होता जा रहा है। हम हिन्दू-मुसलमान के बीच बढ़ती दूरी के गवाह बनाये जा रहे हैं जबकि हमारी समूची नयी पीढ़ी शिक्षा रोजगार के मोर्चे पर चल रही अस्तित्व की लड़ाई में फँस गयी है। इससे विद्यार्थी-युवजन एकता में दरारें पैदा हो गयी हैं। हिन्दुत्व-इस्लामियत और आरक्षण समर्थक-आरक्षण विरोधी जैसे गैर जरूरी सवालों की धुंध से रास्ते नहीं दिखते। किसान घाटे की खेती और जमीन की लूट के दबाव से असहाय हो गया है। फिर भी राजनीतिक दलों के भुलावे में फँसकर किसान एकता के बजाय हिन्दू-मुस्लिम विवादों में अपनी समस्याओं का समाधान तलाशने की कोशिश का आकर्षण बढ़ रहा है। महिला-भारत के सामने घर से लेकर विद्यालय-चिकित्सालय-कार्यालय-देवालय तक में चल रहे भेदभाव और हिंसा की चुनौती है। लेकिन महिला एकता की बजाय जाति और धर्म आधारित अनेकता की आग में घी डाला जा रहा है। इस माहौल में अमन की जरूरत से कौन इंकार कर सकता है?

चारो तरफ से आगे बढ़ रही असामाजिकता और अनेकता की शक्तियों की गतिविधियों के बारे में हमारे समाज को रास्ता बताने वाले चुप नहीं रह सकते। हमें शिक्षा, राजनीति, संस्कृति, धर्म, शिक्षा और व्यवसायों के संगठनों और मार्ग दर्शक व्यक्तियों से नीति और न्याय की राह पर समाज को ले चलने की आशा है। इसमें गौतम-महावीर से लेकर कबीर-नानक-फरीद-तुलसी तक से प्रकाश मिल रहा है। देश का शर्मनाक बँटवारा और गाँधी की कायराना हत्या हमें सचेत कर रहे हैं।

असल में समाज में बदअमन फैलाने वाले लोकप्रिय नहीं हैं। सत्य और धर्म उनके साथ नहीं है, लेकिन वो संगठित और सक्रिय हैं। हमारी निष्क्रियता

का लाभ उठाते हैं। 1990 के बाद से किस्सा कुर्सी का फिर फैल गया है। वोट बैंक बनाने में ज्यादा ध्यान है। एक-दूसरे के बारे में भ्रम-भय फैलाना ज्यादा आसान लगता है। इसमें बहुत चालाकी से अर्द्ध-सत्यों का इस्तेमाल हो रहा है। इसमें नयी टेक्नोलॉजी और सोशल मीडिया का गन्दा इस्तेमाल हो रहा है। सत्ताधीश लोगों की घबराहट को अपने वोट में बदलने को बेहतर मानते हैं जबकि उन्हें सामाजिक एकता की चौकीदारी का जिम्मा संविधान ने दे रखा है।

यही अमन-पसन्द लोगों का मोर्चा है। सत्य-अहिंसा और न्याय की त्रिवेणी को प्रवाह चाहिए। इस प्रवाह को नागरिक शक्ति की सात्विक सक्रियता चाहिए। धर्मों के फासले घटने के लिए लोकहित से जुड़ा परस्पर संवाद और निरंतर सहयोग अचूक और असरदार तरीका रहा है। यही राष्ट्र-निर्माण, लोकतंत्र विस्तार और हमारी तरक्की का एकमात्र रास्ता है। हमारे पुरखे स्वतंत्रता के सेनानी थे। आइये हम अमन के सिपाही बनें।



भारत की राष्ट्रीय एकता : बुनियाद एवं चुनौतियाँ

- राकेश कुमार सिन्हा

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद एक ओर विश्व शांति की खोज में संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की तैयारी चल रही थी तो दूसरी ओर गैर यूरोकेन्द्रित विश्व के पुनर्गठन पर यूरोपीय देशों के बीच विमर्श चल रहा था। एशिया और अफ्रीका के लगभग सभी देश यूरोपीय देशों के औपनिवेशिक नियंत्रण में थे और उनके भविष्य निर्धारण के क्रम में ही भारत को आजादी के साथ ही विभाजित करने की योजना भी बन रही थी। उस समय के यूरोपीय समाजशास्त्री और राजनीति शास्त्री मानते थे कि इंग्लैण्ड के प्रशासनिक नियंत्रण से मुक्त होते ही भारत में पूर्ण अराजकता व्याप्त हो जाएगी और उससे बचने के लिए इस देश को कम से कम दो भागों में विभाजित करना आवश्यक है। विभाजन के बाद भी भारत एक राष्ट्र के रूप में टिक पाएगा इसमें यूरोपीय विद्वानों को बड़ा संदेह था क्योंकि उनके अनुसार भारत एक अपरिपक्व समाज था जहाँ विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में, अलग-अलग भाषा संस्कृति वाले लोग अलग-अलग मजहबों और जातियों में बँटे हुए थे जो आपस में लड़ते रहे और केवल अंग्रेजी राज्य की अधीनता में ही एक प्रशासनिक इकाई के रूप में बँध सके। संस्कृति की नस्लवादी अवधारणा से ग्रस्त यूरोपीय लोगों का यह भी मानना था कि भारत अलग-अलग नस्लों के मिश्रण से बना है जिनकी जातीय स्मृतियाँ आपस में वैर भाव रखती हैं और जो अभी भी बहुत मजबूत हैं। जब एक नस्ल से बना यूरोप, एक ही मूल से निकली आपस में थोड़ा अन्तर रखने वाली भाषाओं और एक ही मसीहा द्वारा प्रवर्तित मजहब के अलग-अलग सम्प्रदायों के आधार पर इतने सारे राष्ट्रों में बँटा हुआ है और जिनका परस्पर द्वेष-भाव इतना गहरा है कि आधी सदी में ही दो-दो भयंकर विश्व युद्ध लड़ चुके हैं तो अलग-अलग नस्लों, इतनी अलग-अलग भाषाओं, संस्कृतियों और

भौगोलिक परिस्थितियों तथा अनेक मजहबों में बँटा हुआ भारत एक राष्ट्र के रूप में टिका रह सकता है, इसकी सम्भावना का प्रस्ताव भी उन्हें अव्यवहारिक लगता था। स्वतंत्रता के बाद से अब तक के सत्तर वर्षों में भारत जिस प्रकार एक मजबूत लोकतांत्रिक देश के रूप में उभरा है उससे हमारी राष्ट्रीय एकता के बारे में सारी यूरोपीय आशंकायें निर्मूल साबित हुई हैं। विश्व के कई भागों में इसी दौरान गहरी उथल-पुथल मचती दिखाई दी। पूर्वी यूरोप में देशों के संघ की मजबूती छलावा साबित हुई, उत्तरी अफ्रीका से लेकर पश्चिमी एशिया में अनगिनत सैनिक तख्ता पलट और जन विद्रोह हुए और हमारी अपनी पश्चिमी सीमा से सटे, यूरोप और अमेरिका के संरक्षण में पल रहे देश में आतंक का मजबूत गढ़ बनता दिखाई दे रहा है। इस बीच कई देशी राजनीतिक धाराएँ और विदेशी ताकतें भारत की इस एकता को कमजोर करने की, देश को यूरोपीय मान्यताओं के अनुरूप अनेक तथाकथित राष्ट्रों में विभाजित दिखाने की और यहाँ तक की भारत की अब तक बनी हुई अखण्डता को ही अवैध ठहराने की कोशिश में अनवरत लगी हुई हैं। दुनिया में हो रहे अनेक तरह के परिवर्तनों से उत्पन्न अनिश्चितताओं से अपनी राष्ट्रीय एकता को सुरक्षित बनाये रखने के लिए अनिवार्य है कि हम यूरोपीय मान्यताओं के विपरीत अपने देश की मजबूत राष्ट्रीय एकता के सैद्धान्तिक आधार को समझने की और इसे और अधिक सुदृढ़ बनाने के लिए इसके सामने आ रही बाधाओं और चुनौतियों को पहचानने की वैचारिक स्पष्टता विकसित करें।

भारत एक प्राकृतिक राष्ट्रीय इकाई -

भारत के रूप में हमारी अपनी पहचान कितनी पुरानी है, इसके कुछ सूत्र हमें अपने प्राचीन साहित्य से मिलते हैं। हमारे देश का नाम भारत वर्ष कैसे पड़ा इसके बारे में अलग-अलग मत हो सकते हैं लेकिन महाभारत में और भगवद्गीता में भारत सम्बोधन का प्रयोग जिस प्रकार भारतवासी के लिए किया गया है उससे इतना तो निश्चित है कि महाभारत के रचनाकाल के आते-आते यह नाम अपने देश में स्थापित हो चुका था। अपने देश की पहचान

भारत वर्ष के रूप में विष्णुपुराण में भी की गई है और इसके भौगोलिक क्षेत्र और उसके विस्तार के वर्णन में बताया गया है कि भारत दक्षिण में सागर से उत्तर में बर्फ वाले पहाड़ों तक फैला हुआ है। वस्तुतः भारत की प्राकृतिक सीमाएँ एक उपमहाद्वीप के रूप में भारत के भूभौतिक निर्माण की प्रक्रिया में ही निर्धारित हो गई थी। उत्तर में दुनियाँ की सबसे ऊँची पर्वत शृंखला एक अर्द्ध-चन्द्राकार रूप लेती हुई पूरब और पश्चिम दोनों ओर लगभग समुद्र तक झुक आती है तथा हमें बाकी एशिया से अलग करती है। दक्षिण का प्रायद्वीपीय भाग तो समुद्र से घिरा हुआ है ही। यह प्राकृतिक संरचना भारत को इतने बड़े क्षेत्रफल वाला सबसे अलग तरह का देश बनाती है। यह एक विशिष्ट भौगोलिक इकाई है जिसमें विपुल प्राकृतिक विविधता है। प्रागैतिहासिक काल के मानव समाज के लिए यह दुर्गम भी था। इस उपमहाद्वीप के मूल निवासी जो भी रहे हों, इतिहास के विभिन्न कालों में छोटे-छोटे मानव समूह सभी दिशाओं से यहाँ आते रहे हैं और भारत की आबादी इन मानव समूहों के मिश्रण से ही बनी है। लेकिन किसी विशाल मानव लहर के आगमन के कोई प्रमाण नहीं है और 'आर्य जाति' से जुड़ी अवधारणायें यूरोप की बनाई हुई है या उसकी प्रतिक्रिया में ही है। दुर्गम सीमाओं के कारण जो मानव समूह एक बार आया वो यही होकर रह गया और यहाँ की विविधता का हिस्सा बन गया है। इन्हीं भौगोलिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में विकसित हुई भारतीय सभ्यता दुनियाँ की किसी भी अन्य सभ्यता से अलग है।

किसी भी क्षेत्र की मानव सभ्यता समाज और प्रकृति के सम्बन्धों से प्रभावित होते हुए विकसित होती है। मानव और अन्य सभी प्रकार के जीवन के लिए सौर ऊर्जा अनिवार्य होती है और इसी के साथ ही जल और हवा भी। भारत की भौगोलिक स्थिति इन सभी दृष्टियों से जीवन के विकास के लिए सर्वथा अनुकूल है। इसमें मानव जीवन भी है, अन्य प्राणी जगत और वनस्पति जगत भी। प्रकृति की विपुल विविधता भारत में अपने हर रंग और रूप में विद्यमान है और भारतीय सभ्यता प्रकृति से समन्वय बनाकर ही विकसित हुई है। प्रकृति से समन्वय और इसकी विविधता को समेटना यही भारतीय जीवन

दर्शन का आधार है और भारत की आधारभूत एकता का राज भी। भारत की राष्ट्रीय एकता की बुनियाद भारत की सभ्यता में है जो इतिहास के विभिन्न कालों में आने वाले मानव समूहों को अपने में समेटते हुए विकसित हुई है। यूरोप के लिए भारत की इस एकता को समझना बहुत मुश्किल है क्योंकि उसकी काल यात्रा भारत से बिलकुल अलग है। जैसे-जैसे हम भूमध्य रेखा से दूर होते जाते हैं, सौर ऊर्जा की आपूर्ति कम होती जाती है, औसत तापमान कम होता जाता है, दिन और रात के समय के बीच का अन्तर बढ़ता जाता है और कुल मिलाकर परिस्थितियाँ जीवन की आवश्यकताओं के प्रतिकूल होती जाती हैं। ऐसे क्षेत्रों में मानव समाज प्रकृति से संघर्ष करते हुए विकसित होता है। प्रकृति से, अपने पर्यावरण से संघर्ष ही ऐसे समाज का जीवन दर्शन बन जाता है। लार्ड बायरन ने तो यहाँ तक कहा है कि प्रकृति उन चोरों की तरह है जो केवल प्रताड़ित किए जाने पर ही अपने राज उगलते हैं।

ऐसा जीवन दर्शन एक ओर तो समाज में प्रकृति पर विजय पाने की उत्कण्ठा पैदा करता है, इसके लिए जरूरी जीवटता प्रदान करता है तो दूसरी ओर इस अभियान में मिलने वाले, अपने से 'अन्य' किसी भी समाज को अपने अधीन करने के लिए उसी तरह से हिंसक हो जाता है। अपने अन्दर भी यह समाज भाषा और मजहबी मान्यताओं के छोटे से छोटे अन्तर को झेल नहीं पाता और हर प्रकार के भेद के आधार पर बँट जाता है। भारत में 'राष्ट्र' की अवधारणा शायद वैदिक काल से ही विकसित होना शुरू हो गयी थी। लेकिन यह उस यूरोपीय अवधारणा से बिलकुल अलग है जो उसे इतने सारे छोटे-छोटे राष्ट्र-राज्यों में बाँटती है। यूरोप जैसे समाज में विविधता विभाजन का आधार है जबकि भारतीय सभ्यता विविधता को समेट कर ही मजबूत होती है।

वर्ण व्यवस्था की पहली -

भारत जैसी सभ्यता में वर्ण व्यवस्था और उससे जोड़कर जाति व्यवस्था कैसे शुरू हुई और कैसे देश के हर क्षेत्र में, हर वर्ग में और यहाँ तक कि हर सम्प्रदाय में इतनी गहरे तक पैठ गयी स्पष्ट नहीं है। भारतीय आबादी के अनुवांशकीय अध्ययन से पता चला है कि लगभग दो हजार साल पूर्व तक

देश के विभिन्न क्षेत्रों में उपस्थित मानव समूहों से खुला मिश्रण होता रहा था लेकिन इसी दौरान वर्ण व्यवस्था की अवधारणा बननी शुरू हुई। भारतीय आबादी के बारे में इस प्रकार के डी.एन.ए. विश्लेषण से कुछ अहम खुलासे हुए जिसमें सबसे बड़ा तो यह कि हमारे पूर्वजों में मोटे तौर पर चार स्थानों में विकसित मानव समूह का मिश्रण था और पूरे देश की आबादी के सभी सामाजिक वर्गों में इन चारों का मिश्रण पाया जाता है अर्थात् वर्ण व्यवस्था के साथ जुड़ी हुई "रक्त शुद्धि" की अवधारणा पूरी तरह मिथ्या है। एक ही जाति समूह में सीमित विवाह सम्बन्धों के कारण मानव डी.एन.ए. में पीढ़ी दर पीढ़ी जो बदलाव आते हैं उनके अध्ययन से पता चलता है कि यह जाति बन्धन भारत में लगभग सत्तर पीढ़ी पुराना है जो 1500 से 2000 वर्षों के बराबर होता है। इस अध्ययन को पौराणिक साहित्य के संदर्भों और ज्ञात इतिहास के साथ जोड़कर देखा जाय तो मानव समाज के वर्गीकरण का विचार शायद लगभग साढ़े तीन हजार साल पहले मानव प्रवृत्तियों के सात्विक, राजसी और तामसिक जैसे वर्गीकरण से शुरू हुआ होगा। देश में आने वाले नए मानव समूहों में कुछ समूह ऐसे भी रहे होंगे जिनमें "अन्य समूहों" को दबाने और उनका शोषण करने की प्रवृत्ति रही है। धीरे-धीरे यह समूह अधिक संगठित होकर और समाज के ताकतवर समूहों, जो सामान्य तौर पर शासक वर्ग बनें, के साथ जुड़कर एक वर्णवादी धारा को विकसित करने की ओर बढ़ा। हर नए आने वाले ऐसे समूहों का साथ इस वर्णवादी धारा ने दिया जो अधिक संगठित और अधिक आक्रामक थे। इसी तरकीब से वर्णवादी धारा ने समय के साथ-साथ एक ऐसी वर्ण व्यवस्था को छल और बल से भारतीय सभ्यता पर थोपा जिसमें वर्ण क्रम के हिसाब से कुछ थोड़े से समूहों को विशेषाधिकार मिलते थे तो विशाल बहुसंख्या का दमन और शोषण होता रहा। हर ताकतवर विदेशी आक्रमणकारी के साथ मिलकर अपने देश की आबादी का दमन और शोषण करने और जातीय वर्जनाओं को और कट्टर बनाने की प्रवृत्ति समाज की वर्णवादी धारा में मध्यकालीन इतिहास से लेकर अंग्रेजों के शासनकाल तक साफ देखी जा सकती है और ऐसी प्रवृत्ति के लिए जरूरी छल कपट, धूर्तता यह सभी इस कट्टर वर्णवादी धारा में कूट-कूट कर भरे रहे। यह

जाति व्यवस्था ही हमारे समाज की सबसे बड़ी कमजोरी है जिसकी वजह से भारत लगभग हर विदेशी आक्रमण के सामने परास्त होता रहा है।

भारतीय संस्कृति :

यूरोप की समझ - किसी सभ्यता के दार्शनिक मूल्यों की अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से उसकी संस्कृति में होती है। भारतीयता की अभिव्यक्ति इस देश की विविध भाषाओं के माध्यम से अलग-अलग क्षेत्रों की सांस्कृतिक विविधता में होती है। इसमें काश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक समाज की सांस्कृतिक विविधता और उसमें निहित एकता दिखाई देती है। भारतीयता की ही एक अभिव्यक्ति कश्मीरियत है तो एक अभिव्यक्ति पंजाबियत। लेकिन भारतीय सभ्यता के मूल्य, मान्यताएँ और आध्यात्मिकता यूरोप से अलग भी है और शायद यूरोपीय ज्ञान शास्त्र के परे भी। इसी वजह से धर्म और हिन्दुत्व जैसे शब्दों को लेकर बहुत भ्रामक धारणाएँ फैली हैं। भारतीय भाषाओं में 'रिलीजन' का कोई समानार्थी शब्द नहीं है और यूरोपीय भाषाओं में धर्म का। लेकिन पिछले तीन सौ साल के इतिहास में, जब यूरोप की सैन्य शक्ति और उसके आधार पर यूरोपीय मान्यताएँ पूरे विश्व पर हावी होने लगीं और भारत में अंग्रेजी राज्य भी स्थापित हो गया तब यूरोपीय विद्वानों ने 'धर्म' शब्द का प्रयोग रिलीजन के समान के अर्थ में करना शुरू किया। शासकीय समर्थन के कारण धीरे-धीरे 'धर्म' रिलीजन का पर्यायवाची बन गया जो भारतीय दर्शन के विपरीत अवधारणा है और हमारे सांस्कृतिक मूल्यों के लिए एक विभ्रम की स्थिति बनाती है जिसके दूरगामी प्रभाव धीरे-धीरे दिखने लगे हैं। धर्म और रिलीजन के मूल अन्तर को इसी बात से समझाया जा सकता है कि धर्म में कुफ्रया हेरेसी जैसी कोई अवधारणा नहीं है।

यही बात इस दूसरे शब्द 'हिन्दू' पर लागू होती है। हमने अपने आपको हिन्दू कब, कैसे और किन अर्थों में कहना शुरू किया यह स्पष्ट नहीं है लेकिन इतना तो निश्चित है कि यह हमारी अपनी परम्परा से निकला हुआ शब्द नहीं है। सामान्य रूप से माना जाता है कि शायद सिन्धु या सिन्ध से जोड़कर अरब

व्यापारियों ने हमारे देश को हिन्द और यहाँ के निवासियों को हिन्दू या हिन्दी कहना शुरू किया। इस प्रकार हिन्दू का अभिप्राय इस भौगोलिक क्षेत्र में रहने वाले लोगों से है। अरब देशों में आज भी भारत से आने वाले यात्रियों की पहचान "हिन्दी" दर्ज होती है चाहे वह किसी भी मजहब के क्यों न हो। भारत में धर्म का कभी कोई नाम नहीं रहा लेकिन यूरोप के लिए इस बात को समझना बहुत कठिन था क्योंकि वहाँ का समाज 'रिलीजन' को किसी न किसी प्रवर्तक के नाम से ही समझता है। पिछले तीन सौ सालों के इतिहास में यूरोप की सोच दुनिया पर हावी रही है। भारत में अंग्रेजी राज्य के दौरान सभी क्षेत्रों में यूरोपीय मान्यताओं को ज्ञान की कसौटी माना जाता रहा और इस दौरान धर्म का अर्थ रिलीजन और 'हिन्दू' का एक खास मजहब को मानने वाला सम्प्रदाय हो गया। भारत की सभ्यता और संस्कृति पर यह घातक हमला था जिसने अपने बारे में हमारी अपनी समझ को विकृत किया है। हमारी अपनी समझ की तीसरी बड़ी विकृति भारतीय 'राष्ट्र' और यूरोप के नेशन को समानार्थी समझना है। भारत विविधता को समेटने वाली एक सभ्यता-आधारित प्राकृतिक राष्ट्रीय इकाई है जबकि यूरोप की अवधारणा का नेशन भाषा, मजहब और नस्लीय एकरूपता पर आधारित इकाई है। यूरोप की समझ को भारत के ऊपर थोपे जाने का पहला परिणाम तो स्वतंत्रता के साथ ही भारत का विभाजन था जिसका फल सिर्फ पाकिस्तान ही नहीं बल्कि पूरा विश्व भुगत रहा है। अगर हम पिछले तीन सौ साल में यूरोप में विकसित मान्यताओं को भारत पर लादना जारी रखेंगे तो यही भारत की बुनियादी एकता के लिए सबसे बड़ा खतरा होगा।

यूरोपीय मान्यताओं के प्रति अभिजात भारतीयों का आकर्षण उस विकास के कारण है जो यूरोप में पिछले तीन सौ सालों में हुआ दिखाई देता है। यूरोप की वर्तमान स्थिति की पृष्ठभूमि में तीन मुख्य तत्व हैं, यूरोप के साम्राज्य का औपनिवेशिक विस्तार जो कि यूरोपीय समाज की निहित आक्रामकता से बना, फ्रांस की राजनीतिक क्रांति और इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रांति जो औपनिवेशिक लूट से अर्जित पूँजी के आधार पर ही सम्भव हो सकी। इन तीन तत्वों के मिश्रित असर से यूरोप में पूँजीवादी औद्योगिक लोकतंत्र के

विकास के रूप में दिखा। थोड़े बहुत अन्तर के साथ इसी प्रकार की व्यवस्था आज के विश्व में लोकतंत्र के रूप में मान्य है। इसी दौरान यूरोप पुराने राजा-रजवाड़ों के शासन से निकल कर वर्तमान राष्ट्र-राज्यों के रूप में विकसित होकर निकला। इसी दौरान यूरोप की आन्तरिक स्पर्धा और आपसी टकराहट के फलस्वरूप दो सर्वसत्तावादी विचारधाराएँ भी विकसित हुईं और दोनों ही धारणाओं का असर भारत में अभी तक दिखाई दे रहा है। दोनों धाराएँ वैसे तो एक दूसरे के विपरीत दिखाई देती हैं लेकिन उनके बीच का अन्तर बहुत बारीक है। ये दोनों धाराएँ यूरोप में पिछली सदी के पूर्वाद्ध में आपस में टकराईं। इनमें से एक धारा इटली में फाँसीवादी (और जर्मनी में नाजी) राष्ट्रवाद के रूप में दिखाई दी तो दूसरी धारा जर्मनी में जन्मी और रूस के साम्यवाद के रूप में दिखी। भारत में यूरोपीय मूल की ये दोनों धाराएँ हमारी बुनियादी एकता के आधार को कमजोर कर रही हैं।

घर के भेदी :

भारत में प्लासी के युद्ध के बाद से ही कम्पनी राज का प्रभुत्व बनने लगा था लेकिन सीधे ब्रिटिश राज की स्थापना 1857 के निर्णायक संघर्ष के बाद ही हुई। इसके साथ ही ब्रिटिश राज में भारतवासियों के अधिकारों की रक्षा के लिए 1885 में **भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस** की स्थापना हुई। इसके सम्भावित असर को कम करने के लिए अंग्रेजी सरकार की शह पर अंग्रेजों से पराजय स्वीकार कर चुके राजा, रजवाड़ों नवाबों और जमींदारों ने मिलकर एक 'यूनाइटेड इण्डिया पैट्रियटिक एसोसियेशन' का गठन किया। इस संगठन ने पहली बार औपचारिक रूप से इस मान्यता को पारित किया कि भारत एक राष्ट्र है ही नहीं अपितु इसमें एक हिन्दू राष्ट्र है और एक मुस्लिम राष्ट्र और दोनों के हित अंग्रेजी शासन से वफादारी में ही निहित हैं। यही मान्यता आगे जाकर आजादी के साथ ही भारत के विभाजन का आधार बनी। हिन्दू और मुस्लिम आधार पर भारतीय समाज का विभाजित संगठन उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशक में शुरु हो गया था। बीसवीं सदी के प्रारम्भ में ही एक के बाद एक **पंजाब हिन्दू महासभा, आल इण्डिया मुस्लिम लीग** और

अन्ततः **अखिल भारतीय हिन्दू महासभा** का गठन हुआ। कांग्रेस के नेतृत्व में चल रहे स्वतंत्रता आन्दोलन के मुकाबले इन संगठनों का भारतीय समाज पर प्रभाव बहुत कम था लेकिन प्रशासन के समर्थन में ये धीरे-धीरे चलते रहे। विशेषकर हिन्दू महासभा बिलकुल भी प्रभावी नहीं हो पा रही थी क्योंकि उसका रुख स्वतंत्रता आन्दोलन विरोधी था और वर्णवादी भी। इसीलिए **महामना मालवीय** और **लाला लाजपत राय** जैसे बड़े राष्ट्रीय नेता, जिन्होंने स्थापना के समय हिन्दू महासभा की सदस्यता ग्रहण की थी, धीरे-धीरे इसमें निष्क्रिय हो गये। साम्प्रदायिक आधार पर भारत के विभाजन की ब्रिटिश योजना के अनुकूल ही मुस्लिम लीग ने अलग **इस्लामी राष्ट्र** की माँग की तो हिन्दुत्ववादी धारा ने **हिन्दू राष्ट्र** की। विभाजन के अनुकूल माहौल बनाने के लिए साम्प्रदायिक तनाव बढ़ाने और हिंसक दंगे कराने में भी दोनों धाराओं ने सक्रिय भूमिका निभाई। अपने ऐतिहासिक चरित्र के अनुरूप ही इस कट्टरवादी धारा ने हर मौके पर ताकतवर विदेशी शासक का ही साथ दिया। यह न सिर्फ स्वतंत्रता आन्दोलन का विरोध करती रही बल्कि सक्रिय रूप से देश के नौजवानों को आजादी की लड़ाई में शामिल होने से, चाहे वह कांग्रेस के नेतृत्व में चल रहा अहिंसक आन्दोलन हो या फिर भगत सिंह और चन्द्रशेखर आजाद का क्रान्तिकारी आन्दोलन, रोकती रही।

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान जब राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन अंग्रेजों से असहयोग और 'न एक पाई न एक भाई' की नीति के साथ-साथ भारत छोड़ो आन्दोलन चला रहा था तब हिन्दुत्ववादी धारा अंग्रेजों के समर्थन में पूरी ताकत लगा रही थी और भारत छोड़ो नाकाम करने में जुड़ी थी। जब नेताजी आजाद हिन्द फौज के साथ भारत की आजादी के लिए जान की बाजी लगा रहे थे तो विनायक दामोदर सावरकर पूर्वी भारत की हिन्दू जनता को आजाद हिन्द फौज के खिलाफ अंग्रेजी फौज में भरती होने के लिए प्रोत्साहित कर रहे थे। भारत छोड़ो आन्दोलन को कमजोर करने के लिए श्री श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने मुस्लिम लीग के साथ मिलकर पश्चिम बंगाल में अन्तरिम सरकार बनाई। जबकि देश की मुख्य धारा इसका बहिष्कार कर रही थी। आजादी के कई

साल बाद तक हिन्दू राष्ट्रवादी धारा के शीर्ष नेता यही दोहरा रहे थे कि उनका एजेंडा हिन्दुत्व था, अंग्रेजों से देश को आजाद करना नहीं। आज इस धारा ने राष्ट्रवाद का मुखौटा लगा रखा है।

यूरोप की दूसरी सर्वसत्तावादी धारा, साम्यवाद के रूप में अपने आपको एक अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन का हिस्सा मानती रही और भारत के राष्ट्रीय हितों से परे। विश्व युद्ध के दौरान इस धारा का विश्व नेता अंग्रेजों के साथ था और इसलिए भारत के कम्युनिस्ट नेता भी अंग्रेजों को अपना साथी मानते रहे और भारत छोड़ो आन्दोलनकारियों के लिए मुखबिरी करते रहे। आजादी के बाद इन्हें रूस और चीन के समर्थन और सहायता से देश के कुछ हिस्सों में मजबूती भी मिली लेकिन तिब्बत पर सैनिक कब्जा करने के बाद अपनी सीमाओं का विस्तार करने के लिए जब चीन ने भारत पर हमला किया तब इस धारा का मुख्य हिस्सा चीन का समर्थन कर रहा था। इसी धारा का एक अधिक उन्मादी हिस्सा तो एक समय चीन के चेयरमैन को अपना चेयरमैन घोषित कर चुका था। बंगाल में सरकार बनाने के बाद साम्यवादी धारा कई खेमों में बँट गई। एक तरफ तो यह केन्द्र की शासक पार्टी से समझौता कर शैक्षणिक संस्थानों में घुसपैठ कर रही थी तो दूसरे सिरे पर आदिवासी क्षेत्रों में सशस्त्र लड़ाई संगठित कर रही थी। लेकिन इस विचारधारा के पास भारत की समस्याओं को समझने और उनका समाधान निकालने के लिए बौद्धिक औजार नहीं है। यूरोप के अध्ययन के आधार पर बनाये गये आर्थिक और राजनीतिक विकास के नियमों और सिद्धान्तों को भारत पर लागू नहीं किया जा सकता। इस बात का अहसास शायद कार्लमार्क्स को हो गया था लेकिन उसके भारतीय भक्तों को शायद अभी तक नहीं हुआ है। जनवाद का मुखौटा लगाकर आई इस धारा की राजनीति निरर्थक बहसों और उतनी ही निरर्थक हिंसा में बँधी हुई है।

भारत के भविष्य के लिए, हमारी राष्ट्रीय एकता के लिए और समाज में एक स्थायी सौहार्द के लिए इन दोनों ही राजनीतिक धाराओं से खतरा है। आजादी के बाद से ही और खासकर 90 के दशक से आगे, हमारी सरकारों

ने अमेरिका और विश्व बैंक के दबाव में आर्थिक विकास का जो माडल अपनाया है उसे गिने चुने पूँजीपतियों को देश के संसाधनों को लूट कर भारी मुनाफा कमाने की छूट मिली है तो दूसरी ओर कृषि और ग्रामीण व्यवस्था ध्वस्त हो रही है, बेरोजगारी बेतहाशा बढ़ रही है और समाज के युवा वर्ग में असन्तोष और आक्रोश भी लगातार बढ़ रहा है। अवसरों की घोर कमी और बढ़ती समस्या का कोई समाधान नजर न आने की वजह से सामाजिक बेचैनी सामाजिक संघर्ष में, आपसी टकराव में बदल रही है। यह स्थिति अपने आप में देश के लिए घातक है लेकिन अगर कोई धूर्त संगठन इस स्थिति का फायदा उठाकर देश में साम्प्रदायिक और जातिगत द्वेष और हिंसा को बढ़ाने और फैलाने का योजनाबद्ध तरीके से काम करे तो देश की एकता और अखण्डता के लिए भारी खतरा पैदा हो सकता है।

यह खतरा इन दिनों कुछ ज्यादा गहराता नजर आ रहा है। 2014 के लोक सभा चुनाव के बाद यह वर्णवादी धारा अति उत्साहित थी और निश्चित थी कि अगले पाँच वर्षों में भारत पर उसका पूरा कब्जा हो जायेगा लेकिन पिछले दो वर्षों में भारत की आम जनता को जिस वास्तविकता का सामना करना पड़ा है उससे उन सारे हवाई सपनों से उसका मोह भंग हो चुका है जिनके सहारे सत्ताधारी दल सातवें आसमान पर उड़ने लगा था। दो प्रमुख चुनाव बुरी तरह हारने के बाद यह वर्णवादी धारा पिछले चुनाव में नये समर्थन के आधार को पक्का करने के लिए ध्रुवीकरण की राजनीति को एक ऐसे नये कलेवर में लेकर आयी है जिसमें भारतीय राजनीति की मुख्य धारा शामिल ही नहीं है।

साम्प्रदायीकरण की सीधी राजनीति के असफल होने के बाद कट्टर वर्णवादी धारा ने राष्ट्रवाद के प्रतीकों का साम्प्रदायीकरण करना शुरु किया है। राष्ट्रवाद के साम्प्रदायीकरण में ऐसे संगठन इनका साथ दे रहे हैं जिनकी देश की अल्पसंख्यक राजनीति में कोई मजबूत जमीन नहीं है लेकिन जो अपने अतिवादी अभिव्यक्तियों के कारण सुर्खियों में बने रहते हैं। भारत के साथ धरती माता को जोड़कर “भारत माता” की अवधारणा आजादी के आन्दोलनकारियों

ने अंग्रेजों के खिलाफ देश को संगठित करने के लिए बनाई थी। श्री नेहरू ने इन्दिरा के नाम अपने पत्र में लिखा था कि भारत की असंख्य जनता को भारत माता के नाम पर कभी भी प्रोत्साहित या उद्वेलित किया जा सकता है। उस समय जो वर्णवादी धारा आजादी के आन्दोलन से अलग या उसके विरुद्ध खड़ी थी वही आज “भारत माता” के नाम का उपयोग देश के आबादी के ध्रुवीकरण के लिए कर रही है। ऐसा ध्रुवीकरण देश में टकराव और तनाव बढ़ाता है और देश को कमजोर करता है।

यही बात देश के अखण्डता के साम्प्रदायीकरण पर लागू होती है। कश्मीर की जनता ने आजादी के बाद बनी परिस्थितियों में भारत के लोकतंत्र के साथ जुड़ने का फैसला किया था। पिछले सात दशकों में जो अन्तर्राष्ट्रीय दौड़पेच चले हैं उनके फलस्वरूप कश्मीर की जनता में असन्तोष, आक्रोश और भारत से अलगाव की भावना बढ़ी है। इसके पीछे के विभिन्न कारणों में देश के राजनीतिक साम्प्रदायीकरण की प्रक्रिया भी एक है। कश्मीर के साथ जोड़ कर की गई “**खीर देंगे, चीर देंगे**” मार्का राजनीति और गुजरात के ऐसे दंगे जिसमें राज्य व्यवस्था अल्पसंख्यकों की सुरक्षा में पूरी तरह लाचार दिखाई दी। दूसरी तरफ कश्मीर में पाकिस्तान का छद्म युद्ध और इस आतंकवादी घुसपैठ के दबाव में कश्मीरी पण्डितों का पलायन अल्पसंख्यकों के दमन के लिए एक कुतर्क बना। पाकिस्तान प्रायोजित घुसपैठ की कोई प्रभावी काट हमलोग अब तक नहीं निकाल सके हैं जिसकी वजह से फौजों की लगातार तैनाती रही है। कश्मीर की एक पूरी पीढ़ी एक तरफ तो आतंकवाद की मार झेलते संगीनों के साये में और फौजी बूटों की आवाज के साथ जवान हुई है तो दूसरी ओर भारत में बढ़ती साम्प्रदायिकता की बढ़ती खबरों की प्रतिक्रिया के माहौल में इस पूरी पीढ़ी ने लोकतंत्र में आजादी की सांस लेने के अनुभव को महसूस करने का मौका देखा ही नहीं जिसके हम आदी हैं। इसलिए इस व्यवस्था के प्रति (कश्मीर में व्यवस्था का मतलब अब भारत और फौज हो गया है) आम कश्मीरी की भावना को समझ पाना भारत की बाकी आबादी के लिए मुश्किल है। इंग्लैण्ड, अमेरिका और बाद में चीन ने कश्मीर की

स्थिति को उलझाए रखने में समय-समय पर अपनी भूमिका निभाई है। लेकिन इन सबके बावजूद कश्मीर के लिए एक मात्र व्यावहारिक समाधान भारत के सम्बैधानिक ढाँचे के अन्दर अधिकतम सम्भव स्वायत्तता और सम्मानजनक स्थान मिलना है। आज की परिस्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय ताकतों भी केवल इसी समाधान को स्वीकार करेंगी यद्यपि वह इस समाधान को अस्थिर और कमजोर बनाये रखने का प्रयास भी करती रहेंगी। लेकिन इस समाधान को सम्भव, स्थिर और मजबूत बनाने के लिए हमें एक तरफ तो पाकिस्तान की छद्म युद्ध की रणनीति को प्रभावी रूप से नाकाम कर कश्मीर को हिंसामुक्त और सैन्यमुक्त बनाना होगा। तो दूसरी ओर देश की आन्तरिक राजनीति में राष्ट्रवाद के साम्प्रदायिकरण को उतने ही प्रभावी ढंग से समाप्त करना होगा। वर्णवादी धारा और तथाकथित जनवादी साम्यवादी धारा के बीच चल रहा छद्म ध्रुवीकरण इसकी राह में एक बड़ा अवरोध है।

साम्यवादी धारा से इस तरह का सीधा खतरा कम गम्भीर है क्योंकि यह धारा यूरोप से सीखी हुई कुछ किताबी बातों को ही दोहरा सकती है जिससे कुछ मुट्टी भर लोगों में जोश पैदा होता है और उतने ही थोड़े से लोगों में रोष। लेकिन ये धारा देश में, समाज में कोई पैठ नहीं बना सकती क्योंकि उसके पास समाज से जुड़ पाने का कोई तरीका नहीं है। इस धारा से सबसे बड़ा खतरा यह है कि कट्टरवर्णवादी धारा इसका इस्तेमाल अपने एजेण्डा को बढ़ाने में कर सकती है। यही बात मुस्लिम साम्प्रदायिक राजनीतिक संगठनों के बारे में भी सच है। यह दूसरी कट्टर वर्णवादी धारा खतरनाक है क्योंकि इतिहास दिखाता है कि समाज की यह धारा समाज के अन्य वर्गों पर अपना आधिपत्य जमाये रखने के लिए कुछ भी कर सकती है और इसकी पुष्टि आजादी के बाद से अब तक के इसके तौर तरीकों से भी होती है।

यह तो साफ हो चुका है कि अगर देश में चल रही लोकतांत्रिक प्रक्रिया जारी रहती है तो सत्ता जल्द ही प्रभावी रूप से देश की बहुसंख्यक जनता के हाथ में चली जाएगी जो कि समाज पर वर्णवादी वर्चस्व के लिए एक निर्णायक चुनौती होगी। स्वस्थ लोकतंत्र के विकास को रोकने के लिए वर्णवादी धारा हर हथकण्डा इस्तेमाल करने के लिए तैयार है। इस दिशा में

कट्टरवादी वर्णवादी धारा ने एक नया मोर्चा खोला है। पिछले दिनों भाजपा शासित राज्यों में समाज के दबंग माने जाने वर्गों ने जो सामान्यतः खेती से जुड़े रहे हैं और अभी तक अपने आपको अन्य पिछड़ा वर्ग में जोड़े जाने के विरुद्ध रहे हैं, अपने लिए आरक्षण की माँग को लेकर आक्रामक और अब तो हिंसक आन्दोलन शुरू किये हैं। इन आन्दोलनों को वर्णवादी धारा का पूरा समर्थन प्राप्त है। उसके माध्यम से यह वर्णवादी धारा समाज में स्वीकृत आरक्षण व्यवस्था के खिलाफ तनाव व टकराव बढ़ाना चाहती है। हरियाणा में चल रहे इस दबंग जातिवादी आन्दोलन की आक्रामकता ने जो वीभत्स हिंसक रूप धारण कर लिया उससे हरियाणा एक सामाजिक टूट के कगार पर पहुँच गया है। इस लगातार बढ़ते हुए तनाव और टकराव के नेपथ्य में आरक्षण के सामाजिक आधार को बदल कर इसे आर्थिक आधार देने की फुसफुसाहट शुरू कर दी गई है। वर्णवाद की इस राजनीतिक साजिश का स्वरूप सामने आने लगा है। इस बात को स्पष्ट समझा जाना चाहिए कि आर्थिक आधार पर आरक्षण एक अर्थहीन बात है क्योंकि आर्थिक समस्याओं का समाधान देश में सही अर्थनीति लागू करके ही निकाला जा सकता है, सामाजिक न्याय की व्यवस्था को खत्म करके नहीं। सामाजिक न्याय के लिए आरक्षण भारत की बहुसंख्यक जनता की भावनाओं की लोकतांत्रिक अभिव्यक्ति है। इसे खत्म करने की सीधी या परोक्ष कोशिश लोकतांत्रिक व्यवस्था से सीधे टकरायेगी। लोकतंत्र को कमजोर करना वर्णवादी धारा की इस साजिश का मुख्य उद्देश्य है। इसके लिए वह राष्ट्रीय एकता के सही स्वरूप का साम्प्रदायीकरण करके देश की बुनियादी एकता को कमजोर करने की साजिश रच रही है। इसका सामना करने के लिए देश की जनता को भी संगठित होना होगा, एक स्वस्थ लोकतंत्र को न सिर्फ मजबूत करने के लिए बल्कि इसे और सुधारकर जनता के लिए सच्चा लोकतंत्र जनता का अपना राज, स्वराज स्थापित करने के लिए। और स्वराज का भी मतलब है आजादी।



सांप्रदायिकता और इस्लाम

-असगर अली इंजीनियर

सांप्रदायिक समस्या से ज्यादा सही और कारगर ढंग से निपटने के लिए दो आयामों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। पहला, हम इस तथ्य को अवश्य स्वीकार करें कि शिक्षा का अधिक प्रसार होने पर अपनी पहचान की भावना विकसित होगी ही, जिसमें दूसरे समुदायों/जातियों से अलगाने की प्रवृत्ति होती है। ऐसा सभी समुदायों और जातियों के साथ होता है। यह एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। शिक्षा प्रसार के चलते दलितों तक में (अनुसूचित जातियों के सदस्य) तीव्र जातीय चेतना विकसित होने लगी है। लगता है यह अवश्यंभावी है और अवश्य ही इसे इसके सही परिप्रेक्ष्य में समझ लेना चाहिए। समस्या का दूसरा आयाम समुदाय के नेतृत्व या संपन्न वर्ग द्वारा अपने निजी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जानबूझ कर यह प्रयास करना है कि समुदायों के बीच अलगाव की भावना जगाते हुए, मुठभेड़ का वातावरण तैयार किया जाए। यही वह प्रक्रिया है जिसका हमें कारगर ढंग से अंत करना है। मुठभेड़ का स्थान सहयोग को लेना पड़ेगा और विवाद की जगह संवाद को लेनी ही होगी।

यह कहना एक मामूली-सी बात होगी कि आजादी के वर्षों बाद भी हिन्दू-मुस्लिम समस्या समाधान से उतनी ही दूर है जितनी कभी थी। अगर कुछ हुआ है तो यह कि स्थिति बदतरक हो चुकी है। इसके कारण अनेक हैं और उनका संबंध राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक क्षेत्रों से हैं, साथ ही धार्मिक क्षेत्र से भी। खेद है कि हमारे देश में राजनीतिक प्रक्रियाएं ज्यादा से ज्यादा सांप्रदायिक होती जा रही हैं। सामाजिक - आर्थिक दबावों और विकास की धीमी गति ने विभिन्न जातियों और सामुदायिक समूहों के बीच प्रतिद्वंद्विता को और भी तेज कर दिया है। ऐसी स्थिति में ताज्जुब नहीं कि सांप्रदायिक और जातीय समस्याएं ज्यादा से ज्यादा जटिल होती जा रही हैं।

राजनीतिबाज और आर्थिक संसाधनों तथा नौकरियों को हथियाने की होड़ में लगे लोग, दोनों ही अपने हितसाधन के लिए धर्म दुहाई देते हैं। इस तरह, ऐसा लगता है मानों धर्म ही दोषी है और सारी तकरार मजहबी है। दरअसल, बात यह नहीं है। फिर भी चूंकि यह एक सामान्य परिप्रेक्ष्य है, और यह परिप्रेक्ष्य ही महत्वपूर्ण है, वास्तविकता नहीं, इसलिए अन्य पहलुओं के साथ-साथ इसके धार्मिक पहलू की चर्चा हमें करनी ही है, ताकि दो प्रमुख धार्मिक समुदायों-हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच सहयोग की भावना विकसित हो सके। अतः इस लेख में हम मुख्यतः इस समस्या के धार्मिक पहलू की चर्चा करेंगे, खास तौर से जहां तक इस्लाम से इसका संबंध है। हम यहां सांप्रदायिक विवाद पर इस्लामी नजरिये को प्रस्तुत करना चाहते हैं।

यह दोनों पक्षों की धर्माधता और कट्टरता की देन है कि इस्लाम काफी हद तक गलत समझा गया है। मान लिया जाता है कि यह दूसरे धर्मों के प्रति असहिष्णु है, खास तौर से हिंदू धर्म के प्रति और इसे आक्रामक विस्तारवादी के रूप में भी प्रस्तुत किया जाता है। सामाजिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कहा जाए तो जब प्रतिकूल परिस्थिति में किसी विचार या वैचारिक प्रणाली से हमारा सामना होता है तो हमारी दृष्टि पूर्वाग्रह से ग्रस्त हो उठती है। इस्लाम और हिन्दू धर्म में टकराहट राजनीतिक स्तर पर है, जहां विपरीत परिस्थितियों में एक दूसरे से आगे बढ़ने की होड़ मची है। इसीलिए दोनों समुदायों की विशिष्ट राजनीतिक हस्तियों ने एक-दूसरे के खिलाफ भी पूर्वाग्रह विकसित कर लिए हैं (हालांकि दोनों समुदायों के नेताओं के बीच राजनीतिक गठबंधन के उदाहरण भी जरूर मिलते रहे हैं।) दूसरी तरफ जनता के स्तर पर सूफी और देहाती फकीर लोकप्रिय हुए हैं और वहां द्वेषभावना नहीं पनपी है।

पहले हम कुछ इस्लामी नसीहतों पर गौर करेंगे, यह देखने के लिए कि धर्म के मामले में इस्लाम अनेकत्ववाद को प्रोत्साहन देता है या नहीं, ताकि दूसरे धर्मों के साथ शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की इसकी क्षमता का सही अंदाजा लगाया जा सके। कुरान में साफ-साफ लिखा है- 'तुममें से हर एक के लिए हमने एक नियम और एक मार्ग नियत कर दिया है। अगर अल्लाह की मर्जी

होती तो तुम सबको वह एक ही जनसमुदाय बनाता, लेकिन वह उसी में तुम्हारी परीक्षा ले सकता है जो तुम्हें उसने दिया है। इसलिए अच्छे कामों में एक-दूसरे से आगे बढ़ने की कोशिश करो।' (कुरान, 5:48)

यह आयत स्पष्टतः अनेकत्ववाद को प्रोत्साहन देती है। यह स्पष्टतः कहती है कि 'तुममें से हर एक के लिए हमने एक नियम और एक मार्ग नियत कर दिया है' और यह कि 'अगर अल्लाह की मर्जी होती तो तुम सबको वह एक ही जन-समुदाय बनाता', लेकिन स्पष्टतः उसने ऐसा नहीं किया, क्योंकि वह इंसानों की परीक्षा लेना चाहता था और देखना चाहता था कि वे अपने धर्मों और मतों की बहुलता के बावजूद शांति के साथ रह सकते हैं या नहीं। अच्छे कामों में एक-दूसरे से होड़ लेते हुए हम मेल-मिलाप के साथ रह सकते हैं।

कुरान में बार-बार यह भी उल्लेख है, 'हमने हर जाति समूह के लिए धर्माचरण के नियम निश्चित कर दिए हैं जिनका वे पालन करते हैं, इसलिए ऐसा कुछ नहीं कर कि इस बात को लेकर तुमसे झगड़ पड़े' (कुरान, 22:67)। एक और आयत कहती है 'हर समुदाय के लिए हमने कुछ धार्मिक अनुष्ठान निश्चित कर दिए हैं जिनका पालन करते हुए वे परवरदिगार का नाम उन पशुओं के आगे पढ़ सकते हैं जो हमने बलि के लिए उन्हे दिए हैं' (कुरान, 22:34)।

कुरान की एक और आयत भी इसी विषय को इन शब्दों में दुहराती है 'हर एक के लिए एक दिशा है जिधर वह मुड़ता है (अर्थात हर एक के ईश्वर की उपासना का अपना एक मार्ग है), अच्छे कामों में एक दूसरे से होड़ करो।' (कुरान 2:148)। मक्का का एक सूरा भी जरा विस्तार से कहता है-

कहो, ओ अविश्वासियों,

मैं उनकी उपासना नहीं करता जिसकी तुम करते हो

और न ही उसकी करते हो जिसकी मैं करता हूँ

और मैं नहीं करूंगा उसकी उपासना

जिसकी तुमने की है

**और न ही तुम करोगे उसकी उपासना
जिसकी मैं करता हूँ,
तुम तुम्हारे धर्म पर मैं मेरे धर्म पर।**

(कुरान, 109)।

कुरान में ऐसी और भी अनेक आयतें मिल सकती हैं जो धर्म में किसी तरह की बाध्यता का कतई समर्थन नहीं करती। “जिसमें बाध्यता नहीं वहीं धर्म है,” कुरान (2:256) साफ-साफ एलान करता है।

सोचा यह भी जाता है कि मुसलमानों से कुरान अपेक्षा रखता है कि वे दूसरे समुदायों के धार्मिक स्थलों को ध्वस्त कर दें और वहाँ मस्जिद बना लें। शायद कुछ गैर-जानकार मुसलमान ऐसा ही मानते हैं। कुरान अपनी तरफ से कुछ और ही कहती है ‘और अगर अल्लाह ने कुछ लोगों को दूसरे के द्वारा नहीं रोका होता तो मठ और गिरजाघर और प्रार्थना घर और मस्जिदें, जिनमें अल्लाह का नाम बार-बार लिया जाता है, नेस्तनाबूद कर दिए गए होते।’ (कुरान, 22:4).

उपर्युक्त आयत से साफ है कि चाहे वह मस्जिद हो या मठ या गिरजाघर, वहाँ अल्लाह का नाम स्मरण किया जाता है और यह भी कि अल्लाह ने एक समूह के लोगों को दूसरों के द्वारा रोककर उपासना के सभी स्थलों की रक्षा की, अर्थात् जिन लोगों ने इन स्थलों की रक्षा नहीं की उन्हें उन लोगों ने मार भगाया जो ऐसा कर सकते थे। इस तरह यह स्पष्ट असुरक्षा की अस्वीकृति है, किसी उपासना स्थल को ध्वस्त करने की तो बात ही अलग रह जाती है। जो कोई मुसलमान किसी उपासना-स्थल को ध्वस्त करता है या ध्वस्त किए जाने को उचित ठहराता है, वह स्पष्ट रूप से कुरान के निर्देशों के विरुद्ध आचरण करता है।

अल्लाह ऐसे लोगों को मार भगाएगा और दंडित करेगा, क्योंकि इन सभी उपासना-स्थलों में अल्लाह का नाम बार-बार स्मरण किया जाता है।

दूसरे खलीफा उमर इब्न अल-खात ने अपनी फिलस्तीन शहर की यात्रा के दौरान वहाँ के गिरजाघर में नमाज अदा नहीं की थी। इस पर फिलस्तीन

के आर्क बिशप ने जब इसकी वजह पूछी तो खलीफा ने कहा कि मुसलमानों को ऐसा कोई बहाना नहीं मिलना चाहिए कि बाद में वे इस आधार पर इस जगह पर दावा करने लगे कि उनके खलीफा ने यहा नमाज अदा की थी। इस तरह मुसलमानों द्वारा गिरजाघर को मस्जिद में बदल डालने के संभावित दावे पर रोक लगाने के लिए खलीफा ने आवश्यक सावधानी बरती। कुरान और पैगंबर, दोनों ही किसी उपासना-स्थल को ध्वस्त किये जाने के खिलाफ बयान देते हैं, चाहे वह किसी भी धर्म का हो। फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि व्यवहार का आदर्श से मेल मुश्किल हो पाता है। राजनीतिक बैर-भावना से प्रेरित होकर कुछ मुसलमानों ने न केवल कुछ गैर-मुस्लिम पूजास्थलों को, बल्कि अपने ही पावनतम उपासना-स्थल काबा तक को क्षतिग्रस्त किया। इस्लाम के आरंभिक इतिहास में उमय्याद खलीफा यजीद के सिपाहियों ने काबा को जला दिया, क्योंकि उस पर उसके प्रतिद्वंद्वी अब्दुल्ला बिन जुबैर का अधिकार था। (हालांकि ताबरी का मत है कि आग आकस्मिक कारणों से लगी थी।) मामला कुछ भी हो, यह एक तथ्य है कि काबा यजीद की सेनाओं से घिरा था और लड़ाई वहाँ जारी थी।

कुछ लोगों द्वारा यह भी दावा किया जाता है कि इस्लाम उन सभी लोगों के कत्ल में विश्वास रखता है जो इस्लाम में विश्वास नहीं रखते। ऊपर दी गई आयतों से इस दावे का जबाब कुछ हद तक दिया जा चुका है। जबकि धार्मिक मामलों में कोई बाध्यता ही नहीं है, तो फिर तलवार के बल पर किसी आदमी के धर्म परिवर्तन की गुंजाइश कहां रह जाती है? जहां तक काफिर शब्द का सवाल है, इसका शाब्दिक अर्थ है अविश्वासी। परमेश्वर द्वारा उद्घाटित सत्य में जो कोई भी विश्वास नहीं करता, वह काफिर है। लेकिन यहां कुरान के इस वक्तव्य पर गौर करना जरूरी है कि पहले के दूसरे पैगंबर जो कुछ कह गए, वे सब भी अल्लाह के ही बल थे, तथा अल्लाह ने सभी राष्ट्रों में उन्ही की भाषा में बोलने के लिए पैगंबर भेजा। कुरान की घोषणा है- “और हर कौम के लिए एक मसीहा है। इसलिए जब उनका मसीहा आता है, मामला उन्हीं के बीच न्यायपूर्वक निपटाया जाता है और वे गुमराह नहीं होते।” (कुरान, 10:47)।

इस प्रकार हर कौम के लिए मसीहा भेजे जाते हैं और मुख्य उद्देश्य होता है उन्हीं के बीच सारी बातें न्यायपूर्वक तय करना, ताकि वे (यानी लोग) गुमराह नहीं हों। अतः ऐसे सभी लोग जो एक या दूसरे मसीहा में विश्वास रखते हैं और न्याय के प्रतिमानों पर टिके रहते हैं वे विश्वासी हैं। कुरान सिर्फ सभी मसीहाओं में विश्वास रखना ही आवश्यक नहीं समझती बल्कि बिना किसी भेदभाव के उन्हे आदर भी देती है। कुरान कहती है- “हम उसके मसीहाओं में किसी को भी अलग नहीं मानते” (कुरान 2:285)। कुरान विश्वासी से यह भी अपेक्षा रखती है कि अलग-अलग कौमों को अतीत में भेजे गए मसीहा समेत परमेश्वर के सभी मसीहा बिना किसी भेदभाव के स्वीकार्य होने चाहिए- “जो अल्लाह में और उसके संदेश-वाहकों में विश्वास रखते हैं और अल्लाह में और उसके संदेशवाहकों में भेदभाव रखना चाहते हैं तथा कहते हैं हम किसी एक में विश्वास रखते हैं और दूसरों में नहीं, और बीच का ही रास्ता अख्तियार करना चाहते हैं वे सचमुच अविश्वासी हैं” (कुरान, 4:105-151)।

मतलब यह कि असली अविश्वासी या काफिरन हक्कां वे हैं जो परमेश्वर द्वारा भेजे गए सभी संदेशवाहकों को स्वीकार नहीं करते हैं और उनमें भेदभाव बरतते हैं। यह भी गौरतलब है कि कुरान में सभी मसीहाओं के नाम गिनाए गए हैं। कुरान ही स्पष्ट करता है, ‘और (हमने भेजे) संदेशवाहक, जिनके बारे में हमने तुझे बताया था’ (कुरान 4:164)। इसकी तथा ऊपर दी गई आयतों की रोशनी में ‘अब्दुरहीम जान-ए-जहां’ (1699-1781) जैसे कुछ सूफी संतों ने कहा है कि खुदा ने हिन्दुओं के बीच भी मसीहा भेजे थे, और ब्राह्मण को आदम के लिए पसंद किया था और वेदों को दिव्य ग्रंथ के रूप में सविकार किया था। निश्चित रूप से यह कुरान की भावना के अनुरूप नहीं होता कि काफिरन के रूप में हिन्दुओं की निंदा की जाए, जैसा कि कुछ अलगाववादी मुसलमानों ने बार-बार किया।

‘उलेमा’ कभी इस बात पर एकमत नहीं रहे कि हिन्दुओं को काफिरन कहकर नकार दिया जाए। पैगंबर खुद जब बहरीन और ओमान के पारसियों

के साथ संधि को अंजाम दे रहे थे, तब उन्होंने अहल अल-किताब (किताब वाले लोगों) के रूप में उन्हें स्वीकार किया था, हालांकि कुरान में इस रूप में उनका उल्लेख नहीं है। इसी तरह तीसरे खलीफा उस्मान इब्न ने उत्तरी अफ्रीका के बर्बर कबीलों को ‘किताब वाले लोगों’ के रूप में स्वीकार किया था, हालांकि यह संदिग्ध है कि उनके पास कोई किताब भी थी। अगर उत्तरी अफ्रीका के बर्बरों को, जिन्हें इब्न खालदून (1332-1383) बर्बर और बिल्कुल असभ्य लोगों के रूप में चित्रित करता है, अहल अल-किताब के रूप में स्वीकार किया गया तो हिंदू क्यों नहीं स्वीकार्य हो सकते, जो एक ऊंची सभ्यता और संस्कृति के वारिस हैं, जिनके पालस दर्शन, सात्विक सिद्धान्तों और भौतिक विज्ञानों की परिष्कृत परंपरा है? अरब लोग तो जाहिरा तौर पर भारतवासियों की उपलब्धि से बेहद प्रभावित थे। प्रसिद्ध इतिहासकार अल-मसूदी (मृत्यु 956-7) ने भारत के बारे में लिखा :

सुदूर अतीत में जबकि सभी राष्ट्र अनेक कबीलों में बंटे थे (अर्थात जब दूसरे लोग कबीलाई दौर से गुजर रहे थे), तब कुलीनता, ईमानदारी, बुद्धिमानी और ज्ञान के गुणों से विभूषित कुछ लोग एक केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत सभी लोगों को एक साथ लाने का प्रयास कर रहे थे। पहले उन्होंने एक केंद्रीय सत्ता स्थापित की और दावा किया कि दूसरों पर शासन के लिए वे अधिकृत हैं। उन्होंने महान ब्राह्मणों को, सर्वोच्च नेता को अपना शासक नियुक्त किया। वह ज्ञानियों के अवतरण का युग था। लोगों ने जीवन के हर क्षेत्र में प्रगति की। उन्होंने खदानों से लोहा निकाला, तलवार और दूसरे हथियार बनाए, महलों का निर्माण किया, आकाश, सितारों और सूरज की गति का अध्ययन किया।

अल-जहीज (मृत्यु 869) भी जो अब्बासिद के दौर का बहुत ही प्रतिभावान लेखक था, भारत और इसकी उपलब्धियों का प्रशंसक था। वह लिखता है- भारत के लोग ज्योतिष और औषधि विज्ञान में बहुत ही निपुण हैं। उनके पास विशिष्ट पांडुलिपियां हैं। आयुर्विज्ञान में भी वे सर्वोच्च अंतर्दृष्टि रखते हैं। उनके पास चिकित्साशास्त्र के कुछ गोपनीय रहस्य हैं, आवक्ष मूर्ति

और प्रतिमाएं निर्मित करने में, रंगों से चित्र बनाने में और वास्तुकला में वे सिद्धहस्त हैं उनका संगीत मोहक है। उनका वाद्ययंत्र कंक कहलाता है जिसे तूबे पर लगे तार पर आघात करके बजाया जाता है...उनके पास कवित्व संपदा और वाम्मिता का असामान्य कोष है। वे चिकित्सा, दर्शन और पुराणों की कलाएं जानते हैं। कलीला व दिम्ना पुस्तक उन्ही से हमारे पास आई है। उनमें प्रचुर साहस और सामान्य समझदारी तथा और भी कई ऐसे गुण हैं जो चीनियों के पास भी नहीं हैं। सफाई उनकी लाक्षणिक विशिष्टता है। वे अच्छे चेहरे-मोहरे वाले लंबे कद के और सुगंधप्रिय हैं। यही वह धरती है जहां से अद्वितीय रत्न शाहों के लिए आते हैं। उच्चतर विचारों की नदियां भारत से बहती हुई अरब तक आई...।

तुलनात्मक धर्म का विवेचन करने वाले बारहवीं सदी के विद्वान अब्दुल करीम शहरस्तानी भी स्वीकार करते हैं कि भारतवासी एक महान कौम और विशाल (धार्मिक) समुदाय (उम्मा कबिरा व मिल्ला अजीमा) हैं, लेकिन उनके दृष्टिकोण और विचारधाराएं परस्पर भिन्न हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि प्राचीन अरब और गैर-अरब मुसलमान इतिहासकार, भारतीयों और भारत की वस्तुओं की भूरी-भूरी प्रशंसा करते हैं। वे खुलकर प्रशंसा करते हैं उनके धर्म की, तात्विक विवेचनों की और साथ ही नीतिशास्त्र की। चौदहवीं सदी के आरंभ के विद्वान महसूद अलशबिस्तारी अपने गुलशन-ए-राज में मूर्तिपूजा तक को उचित ठहराते हैं। वे कहते हैं-

मूर्ति इस संसार में प्यार और एकत्व की अभिव्यक्ति है और यज्ञोपवीत धारण करना सेवा में रहने का संकल्प लेना है। विश्वास और अविश्वास दोनों ही का चूँकि अस्तित्व में निवास है, इसलिए मूर्तिपूजा का सार है ईश्वर से एकाकर होना। वस्तुएं चूँकि अभिव्यक्ति के प्रतिरूप हैं, इसलिए उनमें से कम से कम एक को प्रतिमा होना ही है। अगर मुसलमान को पता होता कि मूर्ति क्या है तो वह अपने विश्वास में भटकता नहीं। उसने मूर्ति में बाहरी रचना के अलावा कुछ नहीं देखा और इसी कारण वह कानून की नजर में काफिर हो गया। अगर तू भी मूर्ति में छिपी उस वास्तविकता को नहीं देखेगा तो तू भी कानून के अनुसार मुसलमान नहीं कहलाएगा।

जैसा की पहले बताया जा चुका है, तीसरे खलीफा उस्मान ने दक्षिण अफ्रीका के बर्बरों तक को अहल अल-किताब (किताब वाले लोग) के रूप में स्वीकार किया, जो असभ्य और क्रूर से ज्यादा कुछ नहीं थे। फिर कैसे वे हिन्दुओं को काफिर घोषित करते और उनकी निंदा करते? मुहम्मद इब्न कासिम (694-76 में प्राणदंड) का जब हिन्दुओं से सामना हुआ तो उसने उनका धार्मिक दर्जा जानना चाहा और उलेमाओं से सवाल किया कि वे क्यों उनके प्रति द्वेषभाव रखते रहे हैं और अक्सर काफिरुन कहकर उनकी निंदा करते रहे हैं। यह अलग रवैया क्यों? इसे समझने के लिए इस वास्तविकता को ध्यान में रखना जरूरी है कि दूसरों के प्रति हमारे रवैये सामाजिक-आर्थिक या राजनीतिक या इसी तरह के हमारे हितों से जुड़े होते हैं। पहले के अरब इतिहासकारों ने भारत और भारतीय वास्तुओं पर अच्छी टिप्पणियां कीं, क्योंकि भारतवासियों के साथ संपर्क विकसित कर वे लाभान्वित होना चाहते थे और उनमें बहुत कुछ सीखने का प्रयास कर रहे थे। बौद्धिक उपलब्धि की दृष्टि से वे भारत के हिन्दुओं की अपेक्षा निचले स्तर पर थे और इसीलिए उनके प्रशंसक थे। मगर बाद वाले दौर के उलेमाओं के साथ स्थिति भिन्न थी। उन्हें संरक्षण दे रहे थे मध्य एशिया के वे मुस्लिम सामंत जो हिन्दू सामंतों के साथ होड़ ले रहे थे। वह राजनीतिक शत्रुता थी जो धार्मिक शत्रुता का रूप ले चुकी थी और इस तरह कई उलेमा काफिरुन शब्द पर उतर आए।

यह अचरज की बात है कि सूफियों ने हिन्दुओं के उलेमाओं से बिस्कुल भिन्न रवैया अपनाया। सूफियों को सत्ता की आकांक्षा नहीं थी, बल्कि इसके विपरीत वे उससे दूर रहे और आध्यत्मिक बातों में लीन रहे। उन्होंने इस्लामी अध्यात्मवृत्तियों और हिन्दू योगियों की आध्यत्मिक क्रियाओं में अनेक समानताएं पाईं। शाही सल्तनत वाले दौर के महान सूफी संत निजामुद्दीन औलिया एक बार अपने शागिर्द अमीर खुसरों के साथ जमुना नदी के किनारे-किनारे चल रहे थे। उन्होंने कुछ हिन्दू स्त्रियों को नहाते और सूर्य की पूजा करते देखा। फौरन वे बोल उठे हर कौम-रा दीनी व किब्ला-गाही (हर समुदाय के लिए एक धर्म और एक उपासना मार्ग)। फना फील्लाह की सूफी अवधारणा भी निर्वाण की बौद्ध अवधारणा से निकली प्रतीत होती है, जो पहले की है।

यह लक्ष्य करना भी महत्वपूर्ण है कि सूफियों ने अपने विचारों और उपदेशों को फैलाने के क्रम में स्थानीय हिंदू मुहावरे अपनाने में संकोच नहीं दिखाया। महाराष्ट्र के सूफी संत शेख मुहम्मद ने सूफीवाद पर अपनी किताब का शीर्षक योगसंग्रह रखा। उन्होंने अरबी शब्दावली की जगह मराठी भाषा और संस्कृत शब्दावली का प्रयोग किया। क्योंकि उनेक दिल था अंतःकरण, जलालियत था तमोगुण और कमालियत था सदगुण। दरअसल उन्होंने वे सभी शब्द इस्तेमाल किए जिन्हें पतंजलि, शंकराचार्य और वेदांत के भाष्यकार प्रयोग में लाते थे। शेख मुहम्मद एकेले अपवाद नहीं थे। बहुत से और भी सूफी संत थे जो उन्हीं की तरह सोचते थे। वे सच्चे मन से आध्यात्मिक क्रियाओं में रूचि रखते थे। वे जानते थे कि बाहरी तौर पर वे अलग थे, लेकिन भीतरी तौर पर नहीं। वे हिन्दूओं की धार्मिक क्रियाओं और मुहावरों के खिलाफ खड़े अन्य सारे मुसलमानों की तरह पूर्वाग्रह से ग्रस्त नहीं थे। गुजरात के कुछ सूफी संतों ने तो पैगंबर तक को कृष्ण के अवतार के रूप में प्रस्तुत किया और इस पर कविताओं की रचना की। वहदत अल वुजूद (अस्तित्वन की एकता) का सिद्धांत भी सर्वेश्वरवादी विषयवस्तु के कारण सार्वभौमिक था। इस सिद्धांत के अनुसार पूरा विश्व ईश्वर की सृष्टि है और उसकी महिमा को व्यक्त करता है। इस प्रकार यहां मानवता के किसी एक वर्ग के साथ भाईचारे का सवाल नहीं जो अपने विश्वासों पर तो टिका रहता है जबकि भिन्न बाहरी विश्वासों के चलते दूसरों को अस्वीकार करता है। सूफियों ने वहदत अल-वुजूद के सिद्धान्त की बात करते हुए सबके साथ भाईचारे का मार्ग प्रशस्त किया।

आज धर्म के अलावा अन्य कारणों से भी हम अपने अतीत से लगभग पूरी तरह दबे हुए हैं। जैसा कि ऊपर बताया गया है, यह अनिवार्य रूप से राजनीतिक वैरभाव है तो अपनी वैधता के चलते धार्मिक विरोध का रूप ले चुका है। हम इतिहास का जरूरत से ज्यादा सरलीकरण कर देते हैं और कहीं पहुंचते नहीं, बल्कि हिन्दुओं और मुसलमानों के विवाद में उलझ जाते हैं। फिर भी मानवीय मामलों के विद्यार्थी के रूप में हमें याद रखना चाहिए कि मानवीय

और खास तौर से अंतर्सामूहिक और अंतर्सामुदायिक संबंध दुरुहता, जटिलता और आपेक्षिकता के जरिए जाहिर होते हैं। हम इस सवाल के व्यौरों में जाने का इरादा नहीं रखते। इसके बारे में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। हम बस इसी पर जोर देना चाहते हैं कि ऐतिहासिक घटनाओं को उनकी गुरुता, गहराई, जटिलता और अनेकार्थता में ही जाँचा जाना चाहिए।

हमें यह भी याद रखना चाहिए, जैसा कि पहले बताया गया है कि मानवीय आचरण किसी एक तत्व से प्रेरित नहीं होता, चाहे वह कितना भी महत्वपूर्ण क्यों न हो। धर्म एकतत्व अक्सर होता है। लेकिन केवल यही प्रेरक तत्व नहीं होता। अगर यह सच है एक साधारण मनुष्य के मामले में, जो किसी महत्वपूर्ण सत्ता संघर्ष में लिप्त नहीं, तो यही सत्ता से जुड़े लोगों पर और भी ज्यादा लागू होता है। अगर हम सरलीकरण से बचें तथा अतीत और वर्तमान घटनाओं को उनकी जटिलता और दुरुहता में समझने का प्रयास करें तो वास्तविक उद्देश्यों का बेहतर अनुमान लगा सकते हैं। धार्मिक विवाद को कम करने और बेहतर समझदारी विकसित करने की दिशा में यह सहायक होगा।

हम यह ध्यान रखें कि समसामयिक घटना की व्याख्य में कहां पर हमारे बीच ही असहमति है। उदाहरण के लिए आपरेशन ब्लू स्टार को लें। क्या इंदिरा गांधी ने इसका आदेश अपने निजी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए या सिखवाद के प्रति द्वेष रखने के कारण या, शायद हिंदू राष्ट्रवाद के झकझोरने और इस तरह चुनावों में अपनी स्थिति बेहतर बनाने के उद्देश्य से दिया? क्या वे सांप्रदायिक हो गई थीं, या उनके मन में यह बात बैठ गई थी कि एकमात्र वे ही देश की एकता को बढ़ावा देने में समर्थ नेता हैं? इनके बारे में कोई भी व्यक्ति एक या दूसरी राय जाहिर करेगा, जो उसके राजनीतिक रुझान या लगाव या पूर्णधारणा पर आधारित होगी। बहस इस तरह जारी रहती है। सिखों में भी इस बात को लेकर मतैक्य नहीं है।

जब हम किसी समसामयिक घटना पर इतना गहरा मतभेद रख सकते हैं तो सुदूर अतीत के बारे में कैसे निश्चयपूर्वक कुछ कह सकते हैं? और फिर भी

ऐतिहासिक पात्रों के उद्देश्य की संभावित पहुंच और जटिलता को अनदेखा करते हुए हम ऐतिहासिक घटनाओं के बारे में अत्यंत निश्चितता के साथ अपनी राय जाहिर करते हैं। वे न तो धर्मांध कट्टरतावादी थे, न ही महान उदारवादी। वे मुख्य रूप से अपने निजी राजनीतिक उद्देश्यों से अनुप्रेरित थे। हम इन तथ्यों को नजर अंदाज नहीं होने दें। अगर हम यही ज्यादा परिष्कृत नजरिया अपना ले तो इतिहास और ऐतिहासिक घटनाओं का हमारा परिप्रेक्ष्य काफी हद तक बदल सकता है।

बदलता हुआ समाज बहुत ही जटिल समस्याएं उत्पन्न करता है जिसमें एक है जातीय समस्या। भारतीय सांप्रदायिकता एक आधुनिक घटना है, इस अर्थ में कि ब्रिटिश शासन के उदय के साथ सामाजिक-आर्थिक संरचना और फलस्वरूप विभिन्न समुदायों के बीच और खास कर के हिन्दुओं के बीच, राजनीतिक संबन्धों में बदलाव आने लगा। परिवर्तनशील बहुलतावादी समाज मुश्किल से साम्प्रदायिक जातीय तनावों से मुक्त रह पाते हैं। जब सामंती-जनतांत्रिक आए तो अचानक सांप्रदायिकता भी सामने आई। स्वाधीनता के बाद जब सामाजिक-आर्थिक रूपांतरण शुरू हुआ तो यह बदलाव और भी गहराने लगा। हमारे सामाजिक और राजनीतिक क्षितिज पर धीरे-धीरे नई शक्तियों और नए संबंधों का उदय हुआ। इस रूपांतरण को भी इसकी सारी जटिलता, गुरुता और दुरुहता में बिना सरलीकरण पर उतरे, समझने की आवश्यकता है।

तीसरी दुनिया के ज्यादातर देश कमोवेश जातीय या साम्प्रदायिक समस्या से जूझ रहे हैं। जिन देशों को एकता और मेल-जोल का आधुनिक नमूना समझा जाता था, वे जातीय और साम्प्रदायिक विवाद के चलते टुकड़ों में बंट रहे हैं। ठीक एक दशक पहले कौन सोच सकता था कि प्रशांत महासागर के शांत फिजी द्वीप को जातीय उथल-पुथलके हिंसक दौर से गुजरना पड़ेगा? फिजी के भारतवंशियों और मूल निवासियों में संघर्ष छिड़ गया। विवाद निश्चित रूप से आर्थिक और राजनीतिक किस्म का था। विवाद छिड़ा डा. टिमोकी बबांद्रा के नेतृत्व में फिजी के भारतवंशियों द्वारा समर्थित संयुक्त सरकार के

चुनाव के साथ। मूल फिजीवासियों ने अपना दावा ठोक दिया, जनतंत्र गला घोंटा गया और सैनिक तानाशाही के जरिए मूल निवासियों ने सत्ता हथिया ली।

श्रीलंका में तमिल सिंहली विवाद भी वहां के बदलते सामाजिक-आर्थिक संतुलन का परिणाम है। सिंहलियों की धारणा थी कि तमिल विशेष सुविधाभोगी अल्पसंख्यक हैं। बौद्ध भिक्षु तक, जिन्हें निरपवाद रूप से शांतिप्रिय समझा जाता था तमिल विरोधी आंदोलन में शामिल हो गए और हिंसा पर उतर आए। ये देश हाल तक जातीय शांति के लिए प्रसिद्ध थे, लेकिन विकास की प्रक्रिया ने विवाद को जन्म दिया। विवाद हमेशा सांप्रदायिक या जातीय जामा पहन लेता है। दुनिया के दूसरे देशों से और भी अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं।

भारत में हिन्दू-मुसलमान समस्या उसी किस्म की है, जिसमें हिन्दू सिख समस्या भी अब जुड़ गई है। वास्तव में हिन्दू-मुसलमान समस्या धार्मिक प्रकृति की नहीं है। विवाद वस्तुतः धर्मनिरपेक्ष क्षेत्र में है। दुर्भाग्यवश यह धार्मिक मुगहावरों में बोलता और अभिव्यक्ति पाता है। मामला कुछ भी हो, हमें सिर्फ इस नाटक के पात्रों के नजरिये से नहीं बल्कि भुक्तभोगियों के नजरिये से इसे देखना है। धार्मिक आयाम के भी सांस्कृतिक पहलू समेत कई पहलू हैं।

हमारे हिन्दू बंधुओं की शिकायत है कि मुसलमान राष्ट्रीय मुख्यधारा का अंग बनने की इच्छा नहीं रखते। यह दावा अंशतः सही है और अंशतः सही नहीं है। अगर हम उत्तर भारतीय मुसलमानों के संपन्न शहरी वर्ग की दृष्टि से देखते हैं तो यह सच मालूम पड़ता है। लेकिन उत्तर भारतीय ग्रामीण मुसलमानों या आम तौर पर दक्षिण और पूर्व भारतीय क्षेत्र के मुसलमानों के बारे में यह सच नहीं है।

दरअसल सांप्रदायिक समस्या का गुरुत्वकेन्द्र हिन्दी भाषी क्षेत्र में है (जिसमें गुजरात और महाराष्ट्र को भी शामिल किया जा सकता है।) इस क्षेत्र का संपन्न शहरी तबका अपनी अलग पहचान पर बल देता है और भारतीय

मुस्लिम संस्कृति के बारे में उसकी निश्चित धारणाएं हैं। इस क्षेत्र के मध्यम वर्गीय मुसलमानों को इस भारतीय-इस्लामी पहचान पर पूरा गर्व है। इसके अलावा इस क्षेत्र का उन्नीसवीं सदी से ही हिंदू-मुस्लिम विवाद का अपना इतिहास है। अलीगढ़ आंदोलन का यह प्रेरक बल रहा है। सबसे ऊपर इसी क्षेत्र में खासतौर से इसके शहरी क्षेत्र में ज्यादातर वे मुसलमान रहते हैं। जो किसी समय के शासक वर्गों के वंशज हैं। पाकिस्तान के लिए राजनीतिक लड़ाई मुख्यतः हिन्दी भाषी क्षेत्र में रह रहे मुसलमानों द्वारा ही लड़ गई थी। इसलिए इसमें ताज्जुब नहीं अगर उन्हीं में अलग पहचान रखने की भावना मुखर है। फिर इसी क्षेत्र के हिन्दू हैं जो मुसलमानों के अलगाववादी रवैय्यों और भारतीय मुख्यधारा का अंग बनने से इंकार के बारे में बहुत जबर्दस्त भावना रखते हैं। फिर भी, समस्या की अपनी जटिलता और रुहता है, और उसे बिल्कुल धार्मिक नजरिए से ही नहीं देखा जाना चाहिए, जैसा कि बार-बार होता है। अलगाववाद की जड़े धर्म में नहीं राजनीति में हैं।

अलगाववाद की जड़े खोजने के लिए हम इतिहास की तरफ लौट चलें। सम्राट अकबर ने जब हिन्दुओं के प्रति उदार नीति अपनाई तो मुस्लिम सामंती वर्ग में और खास तौर से मध्य एशियाई मूल के लोगों में विरोध की लहर उठी। फलस्वरूप मुस्लिम सामंतों का यह वर्ग शेख अहमद सरहिंदी (मृत्यु 1624) की छाया में एकजुट हुआ, जो एक नक्शबंदी सूफी धर्मविज्ञानी थे। दरअसल यह सब शुरू हुआ था दिल्ली में नक्शबंदी ख्वाजा मुहम्मद अल-बाकी बिल्लाह (1563-163) से बाकी बिल्लाह ने मुस्लिम सामंतों से संपर्क रखना शुरू किया और बाद में सरहिंदी को अपना प्रतियोगी बनाया। अकबर के दरबार के प्रसिद्ध और उदार सूफी बुद्धिजीवी अबुल फज़ल के प्रभाव के कारण सरहिंदी उदार विचारों के थे।

अपने प्रशंसकों द्वारा मदुद्दीद अल्फी थानी उपनाम से विभूषित सरहिंदी ने संयोगवश कई मुस्लिम सामंतों को खत (मुक्तूबात) लिखे और सम्राट की गैर-इस्लामी नीतियों का विरोध करते हुए धार्मिक रुढ़िवादिता के महत्व पर जोर दिया। उन्हें उन सामंतों का समर्थन मिला जो हिंदू सामंतों के साथ सत्ता

में भागीदारी नहीं चाहते थे। खींचा-तानी जारी रही। औरंगजेब 'आलमगीर' (शासनकाल 1658-1707) ने भी प्रत्यक्ष उत्तराधिकारी दारा शिकोह (1615-1659) से सत्ता छीनने की कोशिश में मुस्लिम सामंतों के समर्थन का स्वागत किया। दारा शिकोह जाहिरा तौर पर उदारवादी था। मुस्लिम सामंतों ने औरंगजेब का पक्ष लिया, जो अंत में विजयी होकर उभरा। शाह वलीउल्लाह (1703-1762) ने भी मुस्लिम सत्ता कायम करने के लिए भारत के मुस्लिम सामंतों को प्रेरित करने का प्रयास किया था, मगर असफल रहा।

मध्य एशियाई मुस्लिम सामंत वर्ग अपनी बुनियादी पहचान खो चुका है और उसने एक नयी भारतीय इस्लामी पहचान विकसित कर ली है जो इस्लामी और भारतीय दोनों हैं। इस तथ्य को अवश्य ही मान्यता मिलनी चाहिए, क्योंकि उस सवाल से इसका ज्यादा संबंध है जिसकी हम चर्चा कर रहे हैं। इस पहचान को बनाने वाले तत्व इस्लामी और भारतीयपन दूसरों में कुछ खास परिस्थितियों की मांग करता है, जो स्थिति और सत्ता के एकीकरण पर निर्भर करता है। ब्रिटिश आगमन के बाद सत्ता के लिए संघर्ष का नया दौर शुरू हुआ। इसी संघर्ष के दौरान उत्तर भारतीय संपन्न शहरी मुस्लिम वर्ग ने अपनी पहचान का दावा शुरू किया। वह इसलिए कि संघर्ष हिन्दू और मुस्लिम संपन्न वर्गों के बीच छिड़ गया था। मुस्लिम जनता को साथ लेकर चलने और उसका समर्थन पाने के लिए उन्होंने मुसलमानों में इस्लामी पहचान और लगाव की तीव्र भावना उभारने की कोशिश की, देहाती मुसलमानों में हिन्दुत्व के तत्व प्रबल रहे हैं। नामों परम्पराओं और रीति-रिवाजों और अन्य सांस्कृतिक तत्वों पर प्रबल हिन्दू प्रभाव की छाप पड़ी। मुस्लिम संपन्न वर्ग धार्मिक नहीं बल्कि राजनीतिक कारणों से मुस्लिम जन समुदाय से हिन्दुत्व वाली प्रथाएं छोड़ देने का आग्रह करने लगा। दूसरी ओर देवबंदी उलेमाओं ने उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में धार्मिक कारणों से यही अभियान छोड़ दिया। उन्होंने सोचा कि अगर भारतीय मुसलमानों ने 'शुद्ध इस्लाम' का पालन नहीं किया तो वे जरूर ही पतन की प्रक्रिया के शिकार हो जाएंगे। बहरहाल, हमारी चिंता का विषय वैचारिकता की यह धर्मतात्त्विक और कानूनी धारा नहीं है। हमें यहां इसके

राजनीतिक पहलू की चिंता है। उन्नीसवीं सदी के बंगाल में अलगाववाद की स्पष्ट वृद्धि का विश्लेषण करते हुए रफीउद्दीन अहमद कहते हैं-

ये परिवर्तन मुख्यतः इस्लामीकरण अभियान के चलते होने ही थे। संचार का विकास, जिसने देहाती मुसलमानों को अपनी शहरी सहधर्मियों के बिल्कुल करीब ला दिया, इस्लाम के साथ-साथ पश्चिमी शिक्षा का ज्यादा फैलाव और अंततः अनेक सामाजिक और राजनीतिक तत्वों के फलस्वरूप सांप्रदायिक तनाव- इन सबने मिलकर आम मुसलमानों का अपने हिंदू पड़ोसियों से अलगाव बढ़ाने में योगदान किया।

रफीउद्दीन उन अनेक परिवर्तनों की चर्चा करते हैं जिन्होंने बंगाली मुसलमानों की उभरती पहचान को प्रभावित करना शुरू किया। वे कहते हैं-

उन्नीसवीं सदी के आठवें दशक में लिखे गए पहले के नसीहतनामों अक्सर सृष्टिकर्ता का उल्लेख 'श्री श्री हक', 'श्री श्री करीम' के रूप में करते हैं। अब बढ़ती प्रवृत्ति थी ऐसे 'गैर-इस्लामों' सामान सूचकों का 'अल्लाहो अकबर', 'अल्लाहो घानी' जैसे अरबी और फारसी विकल्प तलाशने की। किसी व्यक्ति को संबोधित करने की शैली में भी यही प्रवृत्ति दिखाई देने लगी। 'श्री, श्रीयुत' जैसे संबोधनों ने आम तौर पर 'जनाब', 'मुंशी' और 'मौलवी' जैसे अरबी सम्मान सूचकों को जगह देना शुरू किया। नसीहतनामों के शीर्षक तक नए रूप ग्रहण करने लगे। बंगाल शीर्षकों को अरबी शीर्षकों से बदला जाने लगा, जैसे 'तारीखो मुहम्मदिया', 'अकबर अल-मा रिफात', 'बेदर अलगाफिलीन' आइद। ये परिवर्तन इस्लामीकरण अभियान के पिछे जो मनोविज्ञानी था, उसी के प्रतीक थे। वे यह दिखाते थे कि अनेकेश्वरवाद के खिलाफ छिड़ा जंग किस तेजी से सांस्कृतिक अलगाववाद के रास्ते पर जा रहा था।

इसी तरह की प्रक्रिया दूसरे मुस्लिम समुदायों में शुरू हुई। उदाहरण के लिए राजस्थान और हरियाणा के दो मुस्लिम संप्रदाय ऐसे हैं जो हिन्दुओं से पहले काफी घुले-मिले रहते थे। फिर भी स्वाधीनता संघर्ष के दौरान हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच स्पर्धा की भावना तीव्र हो उठी, और विभाजन के

दौरान तो सांस्कृतिक अलगाव और इस्लामीकरण की प्रक्रिया अपनी अंतिम ऊंचाई तक पहुंच गई। वह विभाजन का ही दौर था जिसमें गुजरात के खोजा मुसलमानों ने हिन्दू नामों और प्रथाओं का त्याग किया।

यह उचित होगा कि उस अलगाववाद और इस्लामीकरण को महज 'मुस्लिम कट्टरवाद' के पहलू से नहीं, बल्कि उस सामाजिक प्रक्रिया के नजरिए से देखा जाए जो काफी हद तक दोनों समुदायों के विशिष्ट वर्गों के बीच राजनीतिक संघर्षों की देन है। फिर, राजनीतिक चेतना व्यापक होने का भी यह नतीजा है। यह कहना अवश्य ही बहुत मुश्किल है कि धार्मिक और सांस्कृतिक चेतना पहले आई या राजनीतिक चेतना। निश्चित रूप से यह जटिल प्रक्रिया है, लेकिन यह अनुभवसिद्ध तथ्य है कि दोनों समुदायों के बीच राजनीतिक संघर्ष आगे रहता है और धार्मिक- सांस्कृतिक अलगाव को बढ़ावा देता है।

इस संबंध में इंडोनेशिया (और विशेषतः जावा) का उदाहरण बार-बार दिया जाता रहा है। जावा के मुसलमान स्थानीय संस्कृति से गहरे तौर पर प्रभावित रहे हैं, जो इस्लाम के वहां पहुंचने से पहले सदियों तक हिंदू संस्कृति से प्रभावित होती रही थी। इसलिए जावा के निवासियों के और काफी हद तक इंडोनेशियाइयों के सांस्कृतिक प्रतीक हिन्दू हैं। उनका राष्ट्रीय नृत्य तक रामायण पर आधारित है। उनके नाम भी कई मामलों में हिन्दुओं से मिलते-जुलते हैं। यह सब सच है। लेकिन इंडोनेशिया में मुसलमान भारी बहुमत में हैं और वहां हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच कोई संघर्ष नहीं था या है। हिन्दुओं के प्रभुत्व का वहां कोई डर नहीं है। जैसा ऊपर बताया जा चुका है वहां अपनी राजनीतिक या सांस्कृतिक पहचान बचाने या अलगाव की भावना उभारने जैसी कोई बात ही नहीं है।

उन्नीसवीं सदी के बंगाल का उदाहरण यह साफ बताता है कि वहां काफी हद तक सांस्कृतिक मेलजोल की स्थिति थी। संभवतः इंडोनेशिया की तरह। लेकिन शिक्षा के प्रसार और दोनों समुदायों के विशिष्ट वर्गों के बीच तेज होते संघर्ष के फलस्वरूप स्थितियां बदलने लगीं। आज भी वहां के उत्तर

भारतीय संपन्न वर्ग में सांस्कृतिक अलगाव की भावना बहुत ही तीव्र है। साम्प्रदायिकता की भावना बढ़ने के साथ-साथ यह प्रक्रिया और भी तीव्र होती जाती है। इन स्थितियों में भी देहाती हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच काफी सांस्कृतिक सादृश्य है। उनकी भाषा, उनके पहनावे और सामाजिक रीति-रिवाजों में काफी समानताएं हैं। अनेक प्रयोगात्मक और मानवशास्त्रीय अध्ययन इसी की पुष्टि करते हैं।

राजनीतिक अनिवार्यताएं और प्रक्रियाएं कुछ भी हों, सांस्कृतिक और धार्मिक अलगाववाद एक निश्चित सीमा से आगे नहीं जा सकता। अलगाववाद की चरम स्थिति में भी मुस्लिम संपन्न वर्ग की पहचान भारतीय इस्लामी ही रहती है जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। भारत के मुसलमान सांस्कृतिक और सामाजिक अर्थ में अपने भारतीयपन की भावना से दूर नहीं जा सकते। उनकी नैतिकता जिस हद तक इस्लामिक है, उसी हद तक भारतीय भी है। उनका मुस्लिमपन उनके भारतीयपन को पूरी तरह बहा नहीं ले जा सकता। इस्लामी दुनिया भी उन्हें भारतीय मुसलमान के रूप में लेती है।

तमिलनाडु, केरल, असम, कश्मीर और पश्चिम बंगाल जैसे दक्षिण और पूर्व भारत के राज्यों (कलकत्ता के बिहारी मुसलमानों को छोड़ते हुए) के हिन्दुओं के बीच उल्लेखनीय तालमेल और समानताएँ हैं, केवल देहाती ही नहीं बल्कि शहरी क्षेत्रों में भी। वे एक जैसी प्रथाओं का पालन करते हैं एक जैसे उनके सांस्कृतिक मूल्य हैं और अवश्य ही वे अपने हिन्दू बंधुओं जैसी भाषा में ही बात करते हैं। केरल में विवाह संस्कार को मंगलम् कहा जाता है और हिन्दुओं की तरह उनकी वैवाहिक प्रथाएं भी मातृसत्तात्मक है कश्मीर में सूफी संतों को ऋषि कहा जात है (जैसे नुरुद्दीन ऋषि)। इन ऋषियों का हिन्दू और मुसलमान दोनों ही सम्मान करते हैं कश्मीर में दोनों ही समुदायों द्वारा समान रूप से सम्मानित एक सूफी कवियित्री लल्लेश्वरी है (जनसाधारण में 'लाल देद' के नाम से प्रसिद्ध), जो नुरुद्दीन ऋषि (नन्दू ऋषि) की समकालीन थी। वह शैव मत के मानती थी और उसने लोकभाषा में काव्य-रचना की, कश्मीर शैव मत में एकेश्वरवादी तत्व (तौहीद) प्रबल है।

इस तरह यह दिखाई देगा कि सांस्कृतिक अलगाव की भावना सिर्फ उत्तर भारत की शहरी आबादी के एक छोटे से हिस्से में मौजूद है और इसको ज्यादा बढ़ा-चढ़ाकर महत्व नहीं दिया जाना चाहिए और जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सांप्रदायिक भावना की तीव्रता के चलते सांस्कृतिक अलगाव की भावना का जोर बढ़ता है। पूरे भारत में सांप्रदायिकता के फैलाव का काफी ज्यादा संबंध चुनाव की प्रक्रियाओं और राजनीतिक अवसरवादिता से है। सांस्कृतिक अलगाव की भावना पर हमला करने के बजाय अगर उसे काबू में किया जाना है तो अच्छा होगा कि सांप्रदायिकता पर हमला करना चाहिए और हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच बेहतर और ज्यादा सद्भावपूर्ण संबंध का सूत्रपात करना चाहिए।

सांम्प्रदायिक समस्या से ज्यादा सही और कारगर ढंग से निपटने के लिए इसके दो आयामों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। पहला, हम इस तथ्य को अवश्य स्वीकार करें कि शिक्षा का अधिक प्रसार होने पर अपनी पहचान की भावना विकसित होगी ही, जिसमें दूसरे समुदायों/जातियों से अलगाने की प्रवृत्ति होती है। ऐसा सभी समुदायों और जातियों के साथ होता है। यह एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। शिक्षा प्रसार के चलते दलितों तक में (अनुसूचित जातियों के सदस्य) तीव्र जातीय चेतना विकसित होने लगी है। लगता है यह अवश्यंभावी है और अवश्य ही इसे इसके सही परिप्रेक्ष्य में समझ लेना चाहिए। समस्या का दूसरा आयाम समुदाय के नेतृत्व या सम्पन्न वर्ग द्वारा अपने निजी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जानबूझ कर यह प्रयास करना है कि समुदायों के बीच अलगाव की भावना जगाते हुए, मुठभेड़ का वातावरण तैयार किया जाए। यही वह प्रक्रिया है जिसका हमें कारगर ढंग से अंत करना है। मुठभेड़ का स्थान सहयोग को लेना पड़ेगा और विवाद की जगह संवाद को लेना ही होगा।

हम इस तथ्य को भी जान चुके हैं कि भारत ने धर्मनिरपेक्षता और लोकतंत्र का रास्ता चुना है तथा हमारा समाज बहुलतावादी है। आधुनिक संदर्भ में लोकतंत्र बिना धर्मनिरपेक्षता के स्थिर रह नहीं सकता तथा धर्म और संस्कृति की वास्तविक बहुलता के बिना धर्मनिरपेक्षता को स्थिरता नहीं मिल सकती।

बहुलतावादी शक्तियों (जिन पर धर्मनिरपेक्षता और लोकतंत्र निर्भर है) को मजबूत बनाने के लिए सभी धर्मों और संस्कृतियों के प्रति समान आदर की भावना हमें विकसित करनी है। सिर्फ सहिष्णुता ही काफी नहीं है। सहिष्णुता एक तरह से निषेधात्मक गुण है। यह कहेगी- चूंकि यह या वह धार्मिक या सांस्कृतिक समुदाय अस्तित्व में है, इसलिए इसे हम बर्दाश्त करें। लेकिन हमें इस तरह की निष्क्रिय सहनशीलता से आगे बढ़ना है और दूसरे धर्मों और संस्कृतियों के प्रति एक रचनात्मक और समानतामूलक आदर की भावना विकसित करनी ही है। आदर भावना एक रचनात्मक गुण है। मुसलमानों को हिन्दुत्व के प्रति उतना ही आदर भाव दिखाना चाहिए जितना वे अपने इस्लाम धर्म के प्रति रखते हैं। इसी तरह हिन्दुओं को भी चाहिए कि वे इस्लाम को संदेह की दृष्टि से न देखें। हिन्दुत्व हालांकि मतवादिता से ग्रस्त है लेकिन हिन्दू वैसा ही हो जाना चाहते हैं। यह वास्तविकता रहन-सहन की है जिसकी मूलतः हमें चिंता है, महज सिद्धान्त या मतवाद की नहीं। सिद्धांत रूप से कहे तो इस्लाम कम सहिष्णु नहीं है, जैसा की ऊपर वर्णित कुरान की आयतों से स्पष्ट है। लेकिन व्यवहार में मुसलमान सहिष्णुता से बहुत दूर है।

सबसे पहले सांप्रदायिक शांति के लिए प्रतिबद्ध दोनों ही समुदायों के प्रमुख सदस्यों को अपने-अपने समुदायों का सही आत्मालोचन अवश्य करना चाहिए। हम दूसरों पर दोष थोपने की प्रवृत्ति रखते हैं और अपनी गलतियों को पूरीतरह अनदेखा कर देते हैं। यह एक आम मानवी व्यवहार की बात है और हम सभी उसके शिकार हैं। हम में से कम से कम कुछ लोगों के तो उससे बाहर निकलना ही होगा और साहस के साथ आत्मालोचन का प्रयास करना होगा। बेहतर होगा, अगर हम इस बात को मानकर चलें कि सांप्रदायिकता स्वभावतः बुरी है। इसे अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक साम्प्रदायिकता की बनावटी श्रेणियों में विभाजित नहीं किया जाना चाहिए। अगर कोई सबूत ही चाहिए तो हमने शाहबानों और राम जन्म भूमि-बाबरी मस्जिद विवादों के दौरान इसे साफ-साफ अनुभव किया है। यहाँ मुस्लिम सांप्रदायिकता अपनी उग्रतम स्थिति में थी और नतीजन उससे हिन्दू सांप्रदायिकता को बल मिला। ऐसा लगा कि दोनों समुदायों के बीच पूरे तौर पर मुठभेड़ की स्थिति आ गई है।

आम हिन्दुओं और मुसलमानों को समझ लेना चाहिए कि सांप्रदायिकता की भावनाएं उभारना निहित-स्वार्थी तत्वों की चाल है, जिसकी गिरफ्त में वे अक्सर आ जाते हैं। ज्यादातर शहरों, कस्बों और गांवों में वे मिलजुल कर शान्तिपूर्वक रहते हैं। उनके बीच कोई तनातनी नहीं, अगर ऊपर से वैसी स्थिति पैदा नहीं की जाए। आम आदमी सही मायने में ज्यादा धार्मिक है और कम सांप्रदायिक, जबकि संपन्न वर्ग की अपेक्षा आम लोगों में एक दूसरे के धर्म के प्रति आदरभाव भी ज्यादा है। आम लोग अपने निजी जीवन के संघर्ष में ही लीन रहते हैं। जो लोग मुठभेड़ वाली दृष्टि रखते हैं उन्हें आम लोगों के संघर्ष की चिंता शायद ही रहती है। वे बाबरी मस्जिद और राम जन्मभूमि जैसे भावनात्मक मुद्दे उछालते रहते हैं, जिनका आम लोगों के वास्तविक संघर्ष से संबंध शायद ही रहता हो। अगर सांप्रदायिक संघर्ष की स्थिति को दूर होना है, तो ये प्राथमिकताएं भी बदली जानी चाहिए।

मुस्लिम बूद्धिजीवी वर्ग धार्मिक-सामाजिक मुद्दों पर बहुत ही ज्यादा संवेदनशील हो उठा है। उनकी कुछ धार्मिक-सामाजिक संवेदनशीलताएं हालांकि वास्तविक हैं, मगर आनुपातिक संतुलन उन्हें नहीं खोना चाहिए। उन्हें बहुसंख्यक समुदाय की भावना का ख्याल रखना चाहिए और समझ लेना चाहिए कि बहुलतावादी समाज में बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक समुदायों के बीच कुछ न कुछ तनाव तो रहेगा ही, वे जरूरत से ज्यादा प्रतिक्रिया नहीं दिखाएं जैसा कि अक्सर दिखाते हैं और इस स्थिति को और बदतर बना देते हैं।

अंतर्सांप्रदायिक संबंधों में रचनात्मक भूमिका निभाने के लिए जरूरी है कि वे पहले एक खुली मध्यमार्गी और समझौतापरक दृष्टि को आधार बनाएं। हिन्दुओं को अनुभव करना चाहिए कि देश की प्रगति सिर्फ तभी संभव है, जबकि यहां सांप्रदायिक शांति और सहयोग की भावना बहुसंख्यकों और अल्पसंख्यकों में बनी रहे। अगर अल्पसंख्यकों की भावनाएं तीव्र होंगी तो देश की एकता खतरे में पड़ेगी, सांप्रदायिक चेतना चरम होने पर तो यह खतरा और भी बढ़ेगा।

मुसलमानों को भी समझना चाहिए कि अस्मिता की पहचान में स्थानीय तत्व अधिक महत्वपूर्ण होते हैं और उन्हें नगण्य की तरह नहीं लेना चाहिए।

सच्ची धार्मिकता और वास्तविक आस्था क्षुद्रता से काफी ऊपर होती है और स्थानीय परंपराएं अपनाते से उन पर गहरा प्रभाव नहीं पड़ता। दरअसल दुनिया में कोई मुस्लिम समुदाय ऐसा नहीं है जो विशुद्ध इस्लामी समुदाय हो। मानव-शास्त्रीय दृष्टि से कहें तो विशुद्ध इस्लामी समुदाय मिथकीय श्रेणी में आता है। मुसलमानों को अपनी पहचान महज विगत के आधार पर नहीं बनानी चाहिए। अगर वे समसामयिक दुनिया में ज्यादा सार्थक जिंदगी जीना चाहते हैं। तो अपनी पहचान की चेतना में वर्तमान और भविष्य को भी लाना होगा। इस तरह उन्हें प्रतिगामी नहीं बल्कि प्रगतिशील पहचान को अपनाना चाहिए, जिसका अर्थ है कि वे अवश्य ही परिवर्तन के लिए अपने आपको खुला छोड़ दे और सामंती विचार को झटक कर झाड़ दें। मुसलमानों ने सामंती मूल्यों को इस गहराई से ग्रहण किया है कि उनसे अपने आपको मुक्त करने में वे कठिनाई महसूस करते हैं। लेकिन यह तो उन्हें करना ही होगा। इस्लाम और सामंतवाद में समानता भी बहुत कम है।

हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच सहयोगात्मक दृष्टि विकसित करने के लिए ये कुछ काम चलाऊ सुझाव हैं। करने की अपेक्षा कहना आसान है, लेकिन हमें याद रखना है कि इच्छा और संकल्प हो, तो कुछ भी यहां असंभव नहीं है। सामने मौजूद समस्याओं से हमें हताश नहीं होना चाहिए। वे तो उभरकर आएंगी ही। आखिर हम राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया से गुजर रहे हैं। यह एक महान कार्य है। यह कार्य यूरोप में तुलनात्मक दृष्टि से आसान था। वहां के समाज एक जैसे धर्म और भाषाओं पर आधारित हैं और औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया एक तरह से व्यापक और अग्रगामी रही है। हमारा समाज तो बहुभाषी और बहुधर्मी है तथा औद्योगिकीकरण धीमी गति से चल रहा है, पूरे आधुनिकीकरण से हम भी काफी दूर हैं। फिर भी हमें मायूस नहीं होना चाहिए। महान चुनौतियों के लिए महान संकल्प की जरूरत होती है। हमें धीरज और सच्ची प्रतिबद्धता के साथ अपने काम में लग जाना है।



सच्ची सांप्रदायिकता बनाम झूठा सेक्यूलरवाद

- योगेन्द्र यादव

आज सेक्यूलरवाद अग्निपरीक्षा से गुजर रहा है। अपने आपको सेक्यूलरवादी कहने वाली राजनीति आज सेक्यूलरवाद की रक्षा करने में असमर्थ है। सच कहें तो सेक्यूलरवाद की राजनीति आज सेक्यूलर भारत के निर्माण में एक रोड़ा है। नंगी, आक्रामक और बलशाली सांप्रदायिकता की आग से गुजरते इस अग्निपरीक्षा से जिंदा बाहर निकलने का यही एकमात्र रास्ता है।

सेक्यूलरवाद हमारे संविधान का एक पवित्र सिद्धांत है। पंथनिरपेक्षता भारत के सपने का अभिन्न अंग है। अगर भारत में किसी एक धर्म, पंथ और मत बाकियों पर लादने की कोशिश की गई तो यह देश बचेगा नहीं। इस लिहाज से सेक्यूलरवाद भारत के बने रहने की शर्त है। लेकिन सेक्यूलर राजनीति हमारे देश का एक बड़ा ढकोसला है। एक पवित्र सिद्धांत को व्यावहारिक रूप देने की जिम्मेवारी जिस सेक्यूलर राजनीति पर आई थी, वह इस जिम्मेवारी का निर्वाह करने में असफल साबित हुई है। व्यवहार में यह सिद्धांत अल्पसंख्यकों के वोट बटोरने का नापाक हथियार बन गया है। सांप्रदायिक राजनीति अपने खतरनाक मंसूबों के प्रति 'सच्ची' है, लेकिन सेक्यूलर राजनीति अपने आदर्शों पर झूठी साबित हुई है। इसलिए भारत के सपने को बचाने के लिए यह जरूरी है कि सेक्यूलर राजनीति अपने गिरेबान में झांकें और अपना परिष्कार करने को तैयार हो।

आज की चुनौती

2014 के चुनाव के बाद से सेक्यूलरवाद की यह बुनियादी कमजोरी खुलकर सामने आ गई है। सेक्यूलर भारत के सपने पर अब तक का सबसे बड़ा हमला हो रहा है। देश-विभाजन के समय हुए नरसंहार के बाद शायद सेक्यूलर भारत के आदर्श पर इतना बड़ा प्रश्नचिन्ह कभी नहीं लगा था। इससे

पहले भाजपा की सरकार आई थी, लेकिन अटल बिहारी वाजपेयी की उस सरकार ने इस आक्रामकता के साथ सांप्रदायिकता का पोषण नहीं किया था। उस सरकार के रहते गुजरात में नरसंहार भी हुआ था। लेकिन वाजपेयी सरकार ने सेक्यूलर मुखौटा पुरी तरह उतारा नहीं था। नरसंहार कांग्रेस के राज में भी हुए थे - 1984 के सिख कत्लेआम और नेल्ली, मलियाना और मुंबई नरसंहार को कौन भूल सकता है। इन सब कांड में राजसत्ता और सरकारी मशीनरी का हाथ जगजाहिर था। फिर भी उन संकटों से गुजरते हुए यह संदेह नहीं हुआ कि सेक्यूलर भारत बचेगा या नहीं। आज आजादी के बाद पहली बार यह सवाल मुंह बाए खड़ा है। जिस तरह इमरजेंसी भारतीय लोकतंत्र के लिए सबसे बड़ा संकट था, उसी तरह मोदी राज भारतीय सेक्यूलरवाद का सबसे बड़ा संकट है। इमरजेंसी के अंत और इंदिरा गांधी की पराजय ने अंततः लोकतंत्र की जड़ मजबूत की। इसी तरह अगले तीन साल में सेक्यूलरवाद इस अग्निपरीक्षा से और मजबूत होकर निकलता है या नहीं, यह आज के भारत का सबसे बड़ा प्रश्न है।

आज पहली बार भारतीय राज्य व्यवस्था सेक्यूलर भारत की जड़ खोदने पर आमादा है। यह काम आहिस्ता और बहुत चतुराई से हो रहा है। मोदी सरकार ने संविधान और कानून के सेक्यूलर प्रावधानों से कोई छेड़छाड़ नहीं की है, करेगी भी नहीं। मोदी जानते हैं कि इस देश में अल्पसंख्यकों की हैसियत घटाने के लिए संविधान बदलने की जरूरत नहीं है। देश के 95 फीसदी नागरिकों के पास संविधान में लिखे अधिकारों को व्यवहार में हासिल करने का कोई औजार नहीं है। अपने अधिकारों की मांग करने लायक साधन, रसूख और आत्मविश्वास उनके पास नहीं है। उनके लिए संविधान की व्याख्या सुप्रीम कोर्ट नहीं, बल्कि उनके थाने का एसएचओ करता है। ऐसे में अल्पसंख्यकों को दोयम दर्जे का नागरिक बनाने के लिए कानून या संविधान बदलने की जरूरत नहीं है। बस ऊपर से एसएचओ को इशारा ही काफी है।

यही मोदी सरकार और संघ परिवार की नई रणनीति है। वे जानते हैं कि भाजपा के सत्ता में रहते हुए बड़ा साम्प्रदायिक दंगा सरकार की छवि के लिए मुफीद नहीं होगा। लेकिन वे भाजपा के सतत विस्तार और राज्य चुनावों में

जीत के लिए साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण की रणनीति पर भी आमादा हैं। नरेन्द्र मोदी और कुछ भी करें, अटल बिहारी वाजपेयी की तरह सेक्यूलर मुखौटा लगाने को तैयार नहीं हैं। इसलिए मोदी राज में साम्प्रदायिकता के विकेन्द्रीकरण की रणनीति अपनाई गई है। किसी एक बड़ी ऊपर से संचालित घटना की बजाय अब साम्प्रदायिक हिंसा जगह-जगह पर 'छोटी-मोटी' और 'स्वतःस्फूर्त' लगने वाली घटनाओं की शक्ल लेगी। हर वारदात को अंजाम देने वाले छुटभैये स्थानीय नेता होंगे, जरूरत हुई तो उनसे पल्ला झाड़ लिया जायगा। सरकार इस हिंसा से सीधा संबंध नहीं रखेगी, बस एक रणनीतिक चुप्पी से शह देगी। अल्पसंख्यकों में दहशत फैलेगी, लेकिन भाजपा सरकार की बदनामी भी नहीं होगी। अगर इस शाब्दिक हिंसा में कुछ ज्यादाती हो गई तो सरकार उससे दूरी बना लेगी। लेकिन सामान्यतः सरकार और मीडिया में उसके पालतू कुल मिलाकर अल्पसंख्यकों को हाशिये पर धकेलने का माहौल बनाएंगे।

आज देश के अधिकांश भागों में यही हो रहा है। संविधान प्रदत्त मौलिक अधिकारों में कटौती किए बिना मुसलमान अल्पसंख्यकों को दोयम दर्जे का नागरिक बना दिया गया है। दादरी में अखलाक की हत्या संयोगवश सुर्खियों में आ गई। ऐसी छोटी-बड़ी घटनाएं चारों ओर हो रही हैं। आए दिन गाय को पकड़कर ले जाने के संदेह में मुसलमानों को पकड़ने और मारपीट की खबर आती है। आतंकवाद के आरोप में बेगुनाह मुसलमान युवाओं की धर-पकड़ पहले से कहीं ज्यादा होने लगी है। राज्य सरकार भाजपा की हो या न हो, थानों में मुसलमानों के साथ दोयम दर्जे का सलूक पहले से बढ़ गया है।

सांप्रदायिकता का जहर जनमानस में भी पहले से ज्यादा फैल गया है। संघ परिवार के दुष्प्रचार का असर पहले से बढ़ा है। नई सरकार आने के बाद से मीडिया का एक बड़ा हिस्सा खुल्लमखुल्ला सांप्रदायिक जहर फैला रहा है। कभी कश्मीर के बहाने, कभी जवाहरलाल नेहरू के बहाने, कभी एनजीओ के नाम पर बार-बार सेक्यूलर विचार और बुद्धिजीवियों को निशाना बनाया जा रहा है। जिन अफवाहों पर पहले कोई कान नहीं देता था, आज उनका बाजार

गर्म है। मुस्लिम जनसंख्या, इस्लामी आतंकवाद जैसे सवालों पर तमाम उल-जलूल तथ्य पेश किए जा रहे हैं। पढ़े-लिखे लोग भी कोरे झूठ को विश्वास करने को तैयार हैं, या कम से कम उस पर बहस करते हुए पाए जाते हैं।

बेशक संघ परिवार अपने हर प्रयास में सफल नहीं होता। 'लव जिहाद' के नाम पर रिश्तों पर पहरे लगाने की कोशिशों को अधिकांश युवावर्ग ने नकार दिया। भाजपा को वोट देने वाले मध्यम वर्ग के बड़े हिस्से को संघ परिवार की उट-पटांग हरकतों से चिढ़ होती है। पिछले चुनाव में भाजपा की झोली भरने वाले पूंजीपति वर्ग को भी बढ़ती असहिष्णुता से चिंता हो रही है। फिर भी सच से इनकार नहीं किया जा सकता कि पिछले दो-तीन साल में एक औसत टीवी देखने वाले हिन्दू नागरिक के मन में मुस्लिम द्वेष बढ़ रहा है।

अल्पसंख्यकों में, खासतौर पर मुसलमानों में भय और संशय का माहौल है। डरा हुआ आदमी समझदारी के काम नहीं करता। इस माहौल ने कई मुस्लिम युवाओं को उग्रवाद के रास्ते पर डाला है। बहुत अर्से तक भारत का मुसलमान इस्लाम के नाम पर चल रहे अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद से परहेज करता रहा है। लेकिन इस माहौल में यह संयम किस हद तक बना रहेगा, यह कहा नहीं जा सकता। आजादी के पहले 50 वर्ष तक मुस्लिम पार्टियों से परहेज करने वाल भारतीय मुसलमान इस माहौल में अपनी मुस्लिम पार्टी की तलाश करने लगा है। ओवैसी की मजलिस-ए-इत्तिहाद-ए-मुसलमीन (एमआईएम) जैसी सांप्रदायिक पार्टी का उभार इसी खतरे की ओर संकेत करता है। हिन्दू और मुसलमान सांप्रदायिकता एक-दूसरे को मजबूत कर रही है। संकट की इस घड़ी में जमकर हर तरफ की सांप्रदायिकता के खिलाफ खड़े होने के बजाय सेक्यूलर राजनीति दिशाहीन है, घबराई हुई है, जनमानस और सड़क पर सांप्रदायिकता का प्रतिरोध करने की बजाय सत्ता के गलियारों में शॉर्टकट ढूंढ़ रही है, भाजपा की हर हार में अपनी जीत देख रही है, हर मोदी विराधी को अपना हीरो बनाने को लालायित है। सांप्रदायिक सेक्यूलर राजनीति अपने नापाक इरादों के लिए संकल्पबद्ध है, इस मायने में सच्ची है। आत्मबल और संकल्प विहीन सेक्यूलर राजनीति अर्धसत्य का सहारा लेने को मजबूर है। सांप्रदायिकता नित नई रणनीति खोज रही है, अपनी जमीन पर लड़ाई लड़

रही है। सेक्यूलरवाद लकीर का फकीर है, दूसरे जमीन पर लड़ाई हारने को अभिशप्त है। हमारे समय की यही विडम्बना है-एक ओर बहुसंख्यकवाद का गंगा नाच है तो दूसरी ओर थके-हारे सेक्यूलरवाद की कवायद।

सेक्यूलरवाद की पुनर्व्याख्या -

यह संकट एक अवसर है। यह अवसर है सेक्यूलरवाद के सिद्धांत की पुनर्व्याख्या का, अवसर है सेक्यूलर राजनीति के पुनर्जन्म का लेकिन इस पुनर्जन्म से पहले सेक्यूलरवाद को प्रसव पीड़ा से गुजरना होगा। इस अग्रिपरीक्षा में सेक्यूलर राजनीति को बहुत कुछ भस्म करना होगा।

सबसे पहले हमें यह समझना और समझाना होगा कि सेक्यूलरवाद एक नया शब्द भले ही हो, भारत में यह कोई नया सिद्धान्त नहीं है। सम्राट अशोक के जमाने से इस देश के शासकों ने समझ लिया था कि नाना किस्म के पंथ और मतों वाले इस देश पर कोई एक धर्म लादा नहीं जा सकता। अशोक ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया, उसका प्रचार-प्रसार किया, लेकिन अशोक के प्रसिद्ध शिलालेख आज भी पाखंडों (भिन्न मत या पंथ को मानने वाले) के प्रति सहिष्णुता बरतने की नसीहत देते हैं। अकबर की धार्मिक सहिष्णुता इसी खांटी भारतीय पंथ निरपेक्षता की परंपरा को अपनाया और उसे मजबूत किया। महात्मा गांधी की शहादत एक पंथ निरपेक्ष भारत के यज्ञ में एक आहुति थी।

भारत का संविधान इस देश की मिट्टी में रचे-बसे सेक्यूलरवाद के इस सिद्धांत को मान्यता देता है। लिहाजा हमारा सेक्यूलरवाद विदेश से इंपोर्टेड माल नहीं है। इसकी भाषा आधुनिक है, लेकिन इसकी बुनियाद में जो सूझ-बूझ है वह देशज है। संविधान द्वारा धर्म के किसी भी एक संस्थागत रूप को राज धर्म का दर्जा देने से इनकार करना और सभी धर्मावलंबियों को अपने मत को मानने और उसका प्रचार-प्रसार करने की आजादी देना इस देश की परम्परागत सूझ-बूझ को संहिताबद्ध करने का प्रयास भर है।

हमारे संविधान निर्माताओं ने सेक्यूलर संविधान के बने-बनाये पश्चिमी मॉडल की नकल नहीं की। वे जानते थे कि धार्मिक आस्था से ओत-प्रोत इस देश में राज्य फ्रांस की तरह धर्म निरपेक्ष नहीं हो सकता। राजसत्ता को लोगों की आस्था का सम्मान करना होगा। वे यह भी समझते थे कि इस देश के

नागरिक समुदाय में जीते हैं- उन्हें पश्चिम की तर्ज पर केवल व्यक्ति की तरह परिभाषित नहीं किया जा सकता। इसलिए हमारे संविधान में समुदायों को अधिकार दिए गए हैं। लेकिन साथ ही साथ डॉ. अंबेडकर जैसे संविधान निर्माता इस हकीकत के प्रति भी सजग थे कि धार्मिक स्वतंत्रता के नाम पर किसी भी समुदाय को अन्याय जैसे मामलों में राज्य को अन्याय और शोषण की अनुमति नहीं दी जा सकती। इसलिए हमारा संविधान छुआछूत और औरतों के साथ अन्याय जैसे मामलों में राज्य को धार्मिक मामलों में दखल की अनुमति भी देता है। हमारे संविधान में एक सेक्यूलर भारत के निर्माण के लिए जरूरी सभी प्रावधान मौजूद हैं। आज के संदर्भ में हमें इन प्रावधानों की मूल भावना को याद रखने और इसकी भारतीय जड़ों को जनता के सामने रखने की जरूरत है। हमें यह भी समझने की जरूरत है कि सेक्यूलरवाद सिर्फ धार्मिक अल्पसंख्यकों के प्रति उदारता नहीं है। इस देश में हम सब किसी न किसी संदर्भ में अल्पसंख्यक हैं। अगर अल्पसंख्यक नहीं बचेंगे तो हम में से कोई भी नहीं बचेगा।

सेक्यूलर राजनीति का मूल्यांकन -

आजादी के बाद से सेक्यूलर इस देश की मिट्टी से कट गया। सेक्यूलरवादियों ने मान लिया कि संविधान में लिखी इबारत से सेक्यूलर भारत स्थापित हो गया। उन्होंने अशोक, अकबर और गाँधी की भाषा छोड़कर विदेशी मुहावरा बोलना शुरू किया। सेक्यूलरवाद का सरकारी अनुवाद 'धर्मनिरपेक्षता' इसी उधारी सोच का नमूना है। धर्म के संस्थागत स्वरूपों और अलग-अलग पंथ के बीच तटस्थ रहने की नीति धीरे-धीरे धर्मों के प्रति निरपेक्षता में बदल गई। सेक्यूलरवाद का अर्थ नास्तिक होना और एक औसत भारतीय की आस्था से विमुख होना बन गया, सेक्यूलरवाद का विचार भारत के जनमानस से कटता गया।

धीरे-धीरे सेक्यूलरवाद एक सरकारी औपचारिकता बन गया। सेक्यूलरवादियों ने औसत नागरिकों के दिलोदिमाग से संवाद बनाना बंद कर दिया। उन्होंने कानून, कचहरी और राजसत्ता के सहारे सेक्यूलरवाद की जड़ें खोदने वालों ने परंपरा, आस्था और धर्म की भाषा पर कब्जा कर लिया।

सेक्यूलरवादियों की लापरवाही और सांप्रदायिक ताकतों के दुष्प्रचार के चलते बहुसंख्यक हिन्दू समाज के एक तबके को सेक्यूलरवाद में हिन्दू-विरोध की बू आने लगी। देश के इस पवित्र सिद्धान्त में देश की आम जनता की आस्था घटने लगी।

इसके चलते सेक्यूलरवाद की राजनीति का भी पतन हुआ। आजादी के आंदोलन में सेक्यूलरवाद एक जोखिम से भरा सिद्धान्त था। आजादी के बाद सेक्यूलरवाद एक सुविधाजनक राजनीति में बदल गया। चुनावी राजनीति में बैठे-बिठाए अल्पसंख्यकों के वोट हासिल करने का नारा बन गया। जैसे-जैसे कांग्रेस की कुर्सी को खतरा बढ़ने लगा, वैसे-वैसे अल्पसंख्यकों के वोट पर कांग्रेस की निर्भरता बढ़ने लगी। अब अल्पसंख्यकों, खासतौर पर मुसलमानों, को वोट बैंक की तरह बांधे रखना कांग्रेस की चुनावी मजबूरी हो गई।

व्यवहार में सेक्यूलर राजनीति का मतलब हो गया अल्पसंख्यकों के पक्ष में खड़े हुए दिखना। पहले जायज हितों की रक्षा से शुरुआत हुई। धीरे-धीरे जायज-नाजायज हर तरह की तरफदारी को सेक्यूलरवाद कहा जाने लगा। आजादी के बाद मुस्लिम समाज उपेक्षा, पिछड़ेपन और भेदभाव का शिकार था। देश के विभाजन के चलते अचानक नेतृत्वविहीन इस समाज को शिक्षा और रोजगार के अवसरों की जरूरत थी। लेकिन उनकी इस बुनियादी जरूरत को पूरा किए बिना उनके वोट हासिल करने की राजनीति ने सेक्यूलरवाद की चादर ओढ़ना शुरू कर दिया। नतीजा यह हुआ कि सेक्यूलर राजनीति मुसलमानों को बंधक बनाए रखने की राजनीति हो गई- मुसलमानों को खौफजदा रखो, हिंसा और दंगों का डर दिखाते जाओ और उनके वोट अपनी झोली में बेटोरते जाओ। नतीजतन मुस्लिम राजनीति प्रतीकों (उर्दू, अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी, शादी-ब्याह के कानून) के इर्द-गिर्द सिमट गई।

जिस खेल को पहले कांग्रेस ने शुरू किया, उसे बाद में समाजवादी पार्टी, राष्ट्रीय जनता दल, जनता दल यूनाइटेड और लेफ्ट ने भी अपना लिया। डर के मारे मुसलमान सेक्यूलर पार्टीयों का बंधक बन गया। मुसलमान पिछड़ते गए और सेक्यूलर राजनीति फलती-फूलती रही। वोट बैंक की इस धिनौनी राजनीति को सेक्यूलर राजनीति कहा जाने लगा।

सेक्यूलरवाद के पवित्र सिद्धांत को सेक्यूलरवाद की नापाक राजनीति का रूप देने के गहरे दुष्परिणाम हुए। धीरे-धीरे एक औसत हिंदू को लगने लगा कि सेक्यूलरवादी लोग या तो अधार्मिक है या विधर्मी उनकी नजर में सेक्यूलरवाद मुस्लिमपरस्ती या अल्पसंख्यकों के तुष्टीकरण का सिद्धान्त दिखने लगा। उधर मुसलमानों को लगने लगा कि सेक्यूलर राजनीति उन्हें बंधक बनाए रखने का षडयंत्र है। इससे तो बेहतर है कि वे खुलकर अपने समुदाय की पार्टी बनाएँ। इस तरह सेक्यूलर राजनीति के अवसरवाद ने हिंदू और मुसलमान दोनों तरह के सांप्रदायिकता को बल दिया।

सेक्यूलर राजनीति की पराजय की झलक सिख कत्लेआम में दिख चुकी थी, लेकिन यह पूरी तरह से पहली बार जन्म भूमि आंदोलन में जाहिर हुई। बाबरी मस्जिद के विध्वंस और 2002 में गुजरात के नरसंहार से गुजरते हुए इस प्रक्रिया की परिणति 2014 के लोकसभा चुनाव में नरेन्द्र मोदी की जीत में हुई। उस हार के सदमें के बाद से सेक्यूलर राजनीति थकी, हारी और घबराई हुई है। देश के सामान्य जन को सेक्यूलर विचार से दोबारा जोड़ने की बड़ी चुनौती के सामने वह थकी हुई है। पिछले 25 साल में तमाम छोटी-बड़ी लड़ाइयों में पराजित होकर आज वह मन से हारी हुई है।

मोदी सरकार और संघ परिवार के नित नए हमले से घबराई हुई है। उसे किसी शार्टकट, किसी चमत्कार की उम्मीद है। देश भर में बीजेपी विरोधी मोर्चा बनाना और ऐसे गठबंधनों के सहारे किसी तरह बीजेपी को चुनाव में हराने की रणनीति इसी थकी-हारी मानसिकता का प्रतीक है। इस रणनीति के तहत भ्रष्टाचार क्षम्य है, जातिवाद क्षम्य है, राजकाज की असफलता भी क्षम्य है। जो आज भाजपा के खिलाफ खड़ा है वो सही है सेक्यूलर है। यह रणनीति अल्पकाल में भले ही सफल हो, दीर्घकाल में यह आत्मघाती साबित होगी।

सच्ची सेक्यूलर राजनीति की दिशा -

आज चुनौती यह है कि सेक्यूलरवाद के पवित्र सिद्धांत के अनुरूप सिद्धांतपरक और प्रभावी सेक्यूलर राजनीति कैसे खड़ी की जाए? यह काम आसान नहीं है और अल्पकालिक भी नहीं है। इसके लिए कई साल ही नहीं,

कई दशकों तक प्रयास करना होगा। सेक्यूलर राजनीति को पुनर्जन्म लेना होगा। यहाँ कुछ शुरुआती कदम चिन्हित किए जा सकते हैं।

पहला : सेक्यूलर राजनीति को अपनी गलती को स्वीकार करना होगा। यह मानना होगा कि नरेन्द्र मोदी की जीत के लिए सेक्यूलर राजनीति की कमजोरी ही नहीं उसका पाप भी जिम्मेवार है, सेक्यूलर राजनीति की कमजोरियों को छुपाने की बजाए उनकी सार्वजनिक आलोचना से ही एक नई सेक्यूलर राजनीति का जन्म हो सकता है।

दूसरा : मुस्लिम राजनीति को केवल धार्मिक और प्रतीकात्मक मुद्दों से हटाकर समाज के पिछड़ेपन और उनके साथ हो रहे भेदभाव पर केन्द्रित करना होगा। समान नागरिक संहिता (यूनिफार्म सिविल कोड) और अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी जैसे मुद्दों पर एक सैद्धांतिक नीति अपनानी होगी।

तीसरा : सांप्रदायिकता की राजनीति चाहे जिस शकल में हो- चाहे बहुसंख्यक की सांप्रदायिकता हो या अल्पसंख्यक की सबका एक जैसा निषेध और विरोध करना होगा। मुस्लिम सांप्रदायिकता और इस्लाम के नाम पर आतंकवाद का खुलकर विरोध करना होगा।

चौथा : जनमानस में फैलती सांप्रदायिकता का मुकाबला करने के लिए आम जनता से उसकी भाषा और मुहावरे में संवाद करना होगा, हमारी परंपराओं में धार्मिक सहिष्णुता के कुछ नमूने उठाने की बजाए इन परंपराओं से गहरा संवाद करना होगा।

पांचवाँ : सांप्रदायिकता विरोध को भाजपा विरोध तक सीमित रखने की बजाए सांप्रदायिक राजनीति के हर स्वरूप को चिन्हित करना होगा। भाजपा के हर विरोधी को अपना हमसफर बनाने की बजाए समाज में नए सहयोगियों को चिन्हित करना होगा।

छठाँ : सांप्रदायिकता की नित नई रणनीति का मुकाबला करने के लिए हमें भी अपनी रणनीति में परिवर्तन करना होगा।



साम्प्रदायिकता (परीक्षा का समय)

- गणेश शंकर विद्यार्थी

गणेश शंकर विद्यार्थी 25 मार्च 1931 को कानपुर के साम्प्रदायिक दंगों को शांत कराने के प्रयास में शहीद हुए थे। साम्प्रदायिकता अथवा फिरकापरस्ती का विरोध उनके जीवन का मूल मंत्र था, लेकिन उनका साम्प्रदायिकता-विरोध आजकल के तथाकथित साम्प्रदायिकता-विरोध से बिलकुल अलग तरह का था। आज तो प्रगतिशीलता का आलम है कि तमस में लाहौर के 47 के दंगों में भी हिन्दू-साम्प्रदायिकता को ही पहल करते दिखलाया जाता है। मुस्लिम साम्प्रदायिकता की ओर उंगली उठाने में डर लगता है। गणेश शंकर विद्यार्थी इतने चालाक नहीं थे। वे दोनों ही कौमों के फिरकापरस्त तत्वों को पहले तो गुमराह बेटों की तरह समझाना पसंद करते थे और न समझने पर कबीर के अंदाज में लताड़ने में भी न झिझकते थे। 1917 के अक्टूबर महीने में भी आरा (बिहार) में घटी एक छोटी सी साम्प्रदायिक घटना को जिस प्रकार मुस्लिम कट्टरपंथी और तालुकेदार, अंग्रेज शासकों के इशारे पर भुनाना चाह रहे थे उससे विचलित होकर विद्यार्थी जी ने ये दो लेख 1917 में क्रमशः 15 अक्टूबर और 17 नवम्बर को लिखे थे। इन्हें उनके साम्प्रदायिकता-विरोध के एक नजरिये के रूप में पढ़ना बेहतर होगा।

हिंदू और मुसलमानों के सामने परीक्षा का समय उपस्थित है। मुहूर्त हुई जब भारत में हिंदुओं का राज्य था। वे यहाँ के अधिपति थे। शताब्दियों पहले भारत में विदेशी मुसलमानों का पदार्पण हुआ। उनके कारण मुसलमानों का ऐश्वर्य बढ़ा। आज समय के फेर से हम दोनों ही हिंदू और मुसलमानों की एक सी दशा है। हम दोनों एक ही ब्रिटिश राज्य की प्रजा हैं। हम दोनों के दुख-सुख समान है। इसलिए यदि एक फिरके या कौम की किसी एक चीज से भलाई या बुराई हो सकती है तो दूसरे फिरके या कौम पर भी वह अपना असर डाले बिना न रहेगी। ऐसा हो भी रहा है। इसलिए हिंदू और मुसलमानों

ने मिलकर यह प्रकट कर दिया है कि भारत की इस समय की शासन प्रणाली से हम संतुष्ट नहीं हैं, इससे हमारी उन्नति नहीं हो सकती। इस घोषणा का नतीजा यह हुआ कि हमारी इस एकता को देखकर लोगों के छक्के छूट गये। यह हमारी एकता के गूँज का ही नमूना है कि भारत के मंत्री मि. मांटुग भारत आ रहे हैं। इसलिए आजकल हमारी तैयारी के दिन है। नष्ट करने के नहीं। ये दिन एकता के सूत्र को और भी मजबूत हाथों से पकड़ने के हैं। छोड़ देने के नहीं। लड़ाई-झगड़ा किसके यहाँ नहीं होता। हिंदू और मुसलमानों ही में क्या, सब देशों की सब कौमों में यह कमजोरियाँ भरी पड़ी हैं। परन्तु आपसी लड़ाई-झगड़े के कारण देशभर के कल्याण पर कुठाराघात करना कहीं भी उचित नहीं समझा जाता। यही बात यहाँ भी होनी चाहिए।

दशहरा और मोहर्रम एक साथ पड़ने वाले हैं। एक खुशी का त्यौहार है और दूसरा रंज का। यह बुरा है कि एक भाई के खुशी के अवसर पर दूसरे के मातम का दिन पड़े। ये दोनों अवसर टाले भी नहीं जा सकते। परन्तु इनसे कोई दैविक विपत्ति का जन्म नहीं होता, जो हटाई ही नहीं जा सके। गिरती हुई बिजलियाँ नहीं रोकी जा सकतीं परन्तु यदि जी चाहे तो मेल-जोल करके, आपस के झगड़ों की जड़ से आसानी से अवश्य काटा जा सकता है। मतलब यह है कि इस अवसर पर देशभर में कहीं भी कोई भी झगड़ा न होना चाहिए। यह बात तनिक भी कठिन नहीं है। जब यह कहते हैं कि हम हिंदू और मुसलमान दोनों मिलकर स्वराज्य चाहते हैं, तब अपने इस मेल का विश्वास हम दूसरों को उस समय कैसे दिला सकते हैं, जब हम सड़ी-सड़ी सी बातों पर एक दूसरे का सिर फोड़ने के लिए तैयार हों। मोहर्रम और दशहरा सड़ी बातें हैं वे कारण, जिनसे झगड़े की सी नौबत आ जाती है। यदि एक दूसरे की सुविधाओं का ख्याल रखा जाए, हृदय को हृदय में राह हो, नेक नियति और खुश मिजाजी और बिरादराना मोहब्बत और देश कल्याण की दृष्टि से काम किया जाए तो कभी बात बिगड़े भी नहीं। हम अपने हिंदू भाइयों से प्रार्थना करते हैं कि यदि आवश्यकता पड़ने पर वे अपना हाथ नीचा तक रखने को तैयार रहें। यदि उनके मुसलमान पड़ोसियों की इच्छा हो कि उनके यहाँ इस

अवसर पर बाजे न बजे, तो ये बाजे न बजाएँ। बिना बाजा बजाए भी वे खुशी मना सकते हैं बाजों की मधुर ध्वनि का अंत कलह की विकराल गूंज के साथ नहीं होना चाहिए। हिंदू यह न समझें कि हम उनसे दबने के लिए कह रहे हैं। यह दबना नहीं है। क्या जिस समय आपके पड़ोसी के घर मातम छा रहा हो और वह आपसे यह चाहे कि आप राग न अलापे, क्योंकि इससे उसका दुःख बढ़ता है तब क्या उसकी बात मान जाना आपका दबना कहलायेगा? नहीं, उस समय उसकी बात का मानना मनुष्यता होगी, और न मानना पिशाचिता। कहिए, आप कौन सा मार्ग ग्रहण करना चाहते हैं? मातृभूमि के नाम पर आप मनुष्य बनना चाहते हैं या उसका वक्षस्थल नोचने के लिए पिशाच! राष्ट्र निर्माण के कार्य में हिंदू आगे हो रहे हैं। इसलिए उनसे यह आशा करना बेजा नहीं है कि इस अवसर पर भी वे ही आगे रहेंगे। हमें आशा है कि मुसलमान भी कम से कम पढ़े लिखे मुसलमान, अवश्य ही समय की आवश्यकता को जानते हैं और वे किसी प्रकार भी झगड़े न होने देंगे। हिंदू उनका पूरा साथ दें। ईश्वर करे समय की इस परीक्षा में हिंदू मुस्लिम पास हो। कौन कह सकता है कि यह अवसर आज इसलिए नहीं पड़ा कि देश के हिंदू मुसलमान अपने भातृत्व के भाव को अच्छी प्रकार सिद्ध करें। फिर हम कहते हैं कि उन्हें पूरी सफलता मिले।

खेद है कि बकरीद पर कुछ नासमझों ने दंगे कर दिये। परंतु इन दंगों से हताश नहीं होना चाहिए। गोरे पत्र और हमारे विरोधी इन दंगों पर खुश हैं और स्वराज्य आकांक्षा की हँसी उड़ाते हैं। उनकी इस स्वाधीनता में कोई बाधा नहीं डाली जा सकती। परंतु इन दंगों से कोई बात बनती बिगड़ती नहीं है। यह देखिये कि हिंदुओं और मुसलमानों में जो लोग समझदार हैं, इन दंगों के हो जाने पर भी उनकी क्या राय है? वे वैसे ही दूध शक्कर की भाँति घुले मिले हैं, पर आगे चलकर उनका एक देश के उजड़ू आदमियों तक की कलहप्रियता का नाश कर देगा।

कठिन समस्या

देश में इस समय एक बिल्कुल नई समस्या उठ खड़ी हुई है। दिन ब दिन उसका बल बढ़ता जा रहा है। कुछ दिनों पहले किसी को उसका स्वप्न

में ख्याल न हुआ था। सभी लोग समझते थे कि स्वराज्य के भाव ने देश के फटे हुए हृदय को जोड़ दिया और अब हमारे घर के झगड़ों का पहले का सा जोर नहीं रहेगा। परंतु देश के दुर्भाग्य से, आज इस धारणा पर पानी फिर गया है या फेरा जा रहा है। उन्हीं की नासमझी का यह फल है कि साधारण श्रेणी के बहुत से मुसलमानों में अनुचित ढंग से जोश फैला हुआ है, ये हिंदुओं से शत्रुता मानते जा रहे हैं। स्वराज्य आंदोलन से हटते जा रहे हैं और इस चिंता में हैं कि मुस्लिम लीग को तोड़-तोड़कर उसकी कब्र पर एक दूसरी कट्टर संस्था को स्थापित करें। केवल एक आरे के दंगे के कारण यह हो रहा है। जो मुसलमान इस समय जोश के कारण आपे से बाहर हैं उनसे बिल्कुल मित्रता के नाते से हमारा यह प्रश्न है कि धार्मिक कट्टरता के कारण किस वर्ग के साधारण लोगों पर बड़े से बड़ा अत्याचार नहीं हुए? क्या मुसलमानों ने कभी ऐसा नहीं किया? जब युद्ध के आरंभ (प्रथम विश्वयुद्ध 1914 - संपा.) में सरहदी प्रांतों के कुछ जिलों में उजड़ू मुसलमानों के कारण एक भी हिंदू घर अछूता नहीं बचा था? धन और जन किसी की भी रक्षा नहीं हुई थी। वह बड़ा ही दर्दनाक किस्सा है। अत्याचार और अनाचार उस समय भी अपनी सोलहों कला से उदय हुए थे। किंतु इस प्रकार की घटनाओं की ओर संकेत करने से हमारा यह मतलब नहीं है कि हम आरे के उत्साही हिंदुओं का पक्ष लेते हैं। हमारा निवेदन केवल इतना ही है कि धार्मिक कट्टरता मनुष्य को किसी अवसर पर मनुष्य नहीं बना रहने देती, उसे यह पशु बना देती है। कभी हिंदू इस प्रकार के पशु बने हैं और कभी मुसलमान भी वैसे बने हैं।

संसार का कोई भी वर्ग इस प्रकार की पशुता से अछूता नहीं बचा होगा। हम यह भी नहीं कहते कि यह पशुता सार्वदेशिक और सार्वजनिक है, इसलिए क्षम्य है। नहीं, हम स्पष्ट रूप से कहते हैं कि समाज के कल्याण के लिए सब प्रकार की पशुता को वश में रखना और अपराधियों को दंड देना आवश्यक है परंतु किसी भी अवस्था में कुछ आदमियों के अपराध पर उनका पूरा वर्ग अपराधी नहीं माना जा सकता। आरे के कुछ हिंदुओं ने अपराध किया तो सभी हिंदुओं को अपराधी मान बैठना अन्याय और अदूरदर्शिता है। साधारण मुसलमान और उनके मौलवी लोग ऐसा ही कर रहे हैं। हमारी प्रार्थना है कि

न्याय के नाते पर वे ऐसा न्याय करना छोड़े। हम उनसे पूछते हैं कि यदि अपराधी मुसलमान होते और उन्होंने अपने मुसलमान भाइयों के ऊपर ही अत्याचार किया होता, तब वे क्या करते? क्या अपराधी के हिंदू या गैर मुस्लिम होने के कारण ही अपराध की मात्रा इतनी बढ़ जाती है कि उसमें सभी हिंदू या गैर-मुस्लिम लपेटे जा सके? हमारा निवेदन है कि हमारे मुसलमान भाई इस न्यायादर्श से काम न करें। यदि वे इस दृष्टि से बातों को देखने के अभ्यासी हैं तो वे इसे छोड़ दें, क्योंकि वर्तमान युग सभी को समान अवसर देता है और संसार के किसी भी देश में इस प्रकार के जर्बदस्ती का कोई मान नहीं होगा। यदि यह मान भी लिया जाए कि सभी हिंदुओं ने कसूर किया और और इतना बढ़ा कि वह किसी भी प्रकार माफ नहीं किया जा सकता, तो वे क्या हमें मालूम हो सकता है कि बेचारे देश ने इन मुसलमानों का क्या कसूर किया है? वे स्वराज्य आंदोलन के विरोध पर क्यों तुले नजर आते हैं? क्या वे इस प्रकार अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी चलाने के लिए तैयार नहीं? क्या वे दूसरे का सगुन बिगाड़ने के लिए अपनी नाक काटना नहीं है?

ये देश का अत्यंत दुर्भाग्य है कि जिस समय वह अनेक आपदाओं से घिरा हो, जब उसके कल्याण पर इधर गोरे व्यापारी कुल्हाड़ी चला रहे हो और उधर हजारों जमींदार फुसलाए जाकर उसके विरोधी बनाए जा रहे हों, जब उपजातियाँ और टुकड़ियाँ इशारों पर नाचती और देश की फूट को बढ़ाती हुई अपनी डेढ़ ईंट की मस्जिद अलग खड़ी कर रही हों, जबकि आवश्यकता थी कि हम अपनी सारी शक्तियों को इकट्ठा करके एक जन के रूप में, बाहरी दुर्घटनाओं का मुकाबला करने के लिए खड़े होते, तब हमारे घर में केवल कुछ नासमझ उत्पातियों के कारण, देश के एक बड़े भारी वर्ग के आदमी अपनी बुद्धि इस प्रकार गंवा दे और चौदहवीं शताब्दी के पुराने शुराने विचारों वाले कट्टर लोगों के कहने में आकर बड़े से बड़े हित पर कुल्हाड़ी चलाने लगे। स्वराज्यवादियों के सामने इस समय बड़ी ही कठिन समस्या उपस्थित है। अत्यंत शांत चित्तता और निष्पक्षता से हमें काम करना है। हम न हिंदू हैं न मुसलमान। मातृभूमि का कल्याण ही हमारा धर्म है और उसके बाधकों का सामना करना ही हमारा कर्म। पंडित हो या मौलवी, धर्म हो या कर्म मातृभूमि

के हित के विरुद्ध किसी की भी व्यवस्था हमें मान्य नहीं है। मातृभूमि का अपराधी चाहे वह हिंदू हो या मुसलमान- कोई भी हमारे तिरस्कार और उपेक्षा से भाग नहीं सकता। दुनिया भर के आडम्बरों की छाया में अपने उद्देश्यों की ओर बढ़ने की इच्छा रखना भ्रम में पड़ना है। स्वाधीनता का युद्ध भीतर और बाहर सभी जगह होना चाहिए।

हमारी आज तक की भीरुता ने ही हमें आज यह दिन दिखाया है। हमने इनके भी प्रसन्न रखने का ख्याल रखा और उनके भी। फल यह साबित हुआ कि कोई भी प्रसन्न न हुआ और हमारी राह भी न कटी। अब केवल उसी को मातृभूमि का सच्चा भक्त कहा जाए जो केवल देश के लिए जिये और उसी के लिए मरे, जो मनुष्य को पशु से श्रेष्ठ समझे और मनुष्यता को पशुता से ऊँचा माने, जो एक गाय की रक्षा के लिए शांति का नाश न करे और मनुष्य के गले न काटे, और जो केवल अपनी सनक और कट्टरता पूरी करने के लिए अपने पड़ोसियों के हृदय को पैरों तले न रौंदें और मूर्ख और स्वार्थी आचार्यों के बहकावे में न आ जाये। यही इस समस्या का हल है। क्या हर्ज जो इस समय फूट बढ़ जाये। क्या हर्ज है, यदि जिसे तुम स्वराज कहते हो वह शीघ्र न मिले यदि इन कामों से माता के मंदिर की नींव मजबूत पड़ गई, यदि इनसे माता के सच्चे उपासकों की, जिनके वेद और पुराण, माता का सुजलां-सुफलां वक्षस्थल हो और जिनके देवता और पैगम्बर माता के उद्यान के अविकसित पुष्प तो माता के दुख दूर हो जायेंगे और स्वराज्य घुटनों के बल हमारे चरणों में आयेगा।

हिन्दू महासभा से -

गणेश शंकर विद्यार्थी सांप्रदायिक परिस्थितियों से निपटने के अक्सर दो तरीके अपनाते थे। पहले तो वे उन्हें समझा बुझाकर सही दिशा में मोड़ने की कोशिश करते थे और जब उसका असर नहीं पड़ता दिखाई देता था, तो सीधे प्रहार करने में भी नहीं हिचकते थे। 5 मई 1924 का उनका यह लेख हिंदू महासभा के लोगों को समझाने-बुझाने के इरादे से ही लिखा गया था। यही दृष्टिकोण उनकी 'कठिन समस्या' लेख में मुसलमानों के प्रति भी व्यक्त हुआ है।

हम कई बार लिख चुके हैं कि हम विरोधमय हिंदू संगठन के पक्ष में नहीं। इस समय देश में जहाँ कहीं दृष्टि जाती है, हिंदू मुस्लिम विरोध की चिनगारियाँ दिखाई देती हैं। हिंदुओं के दिल में यह बात जम गई है कि हिंदू सदा मुसलमानों द्वारा त्रस्त और पीड़ित किए जाते हैं। हिंदू महिलाओं के ऊपर किए जा रहे अनाचार और मौके बे मौके मुसलमानों द्वारा की गई अन्य ज्यादतियाँ हिंदुओं को स्वात्म रक्षा के लिए नहीं, किंतु प्रतिशोध के लिए उत्तेजित कर रही हैं। हमारा धर्म है कि इस भारतवर्ष में बसने वाले मुसलमानों से साफ कह दें कि उनका पवित्र धर्म उन्हें यह आदेश देता है कि वे हिंदुस्तान के हित की दृष्टि से अपने आप को परिवर्तित करें। उनको याद रखना चाहिए कि पवित्रता की सीमा का उल्लंघन करना और हर बात को धार्मिक रूप देकर उसके लिए लड़ बैठना उनकी वीरता को नहीं उनकी मुर्खता को प्रकट करता है। उन्हें चाहिए कि वे अपने मानसिक क्षितिज को और विस्तृत बनाएँ, वे मिलजुल कर रहना सीखें। वे अन्य जाति वालों की धर्म भावनाओं का कदर करना सीखें। यदि वे ऐसा न करेंगे, तो हिंदू जाति प्रतिक्रियात्मक संगठन को जन्म देगी, जन्म देगी क्या, वह उसे जन्म दे रही है। हिंदू जो कुछ कर रहे हैं वह बिल्कुल स्वाभाविक है। वे समझते हैं कि उनकी विश्रुंखल व्यवस्था उन्हें मुसलमानों की अनाप-शनाप इच्छा के सामने झुक जाने को बाध्य करती है। वे यह भी समझते हैं कि मुसलमानों के संगठित हमलों से रक्षा करने के लिए हिंदू मात्र को संगठित होना आवश्यक है। इस प्रकार जो संगठन हो रहा है या होगा, वह निश्चयरूपेण प्रतिक्रियात्मक एवं विरोधमय होगा। ऐसी अवस्था में क्या यह संगठन अन्य जाति के प्रति अनाचार या ज्यादती करने में हिचकेगा? यदि नहीं, तो फिर क्या देश में हिंदू-मुस्लिम विद्वेष वह भयानक रूप धारण न कर लेगा, जिसके कारण हिंदुस्तान के शासन में एक तृतीय दल की उपस्थिति आवश्यक समझी जाएगी। मुमकिन है कि हिंदू महासभा और सनातन धर्म महामंडल हिंदू संगठन की प्रतिक्रिया का उन्मूलन करने का प्रयत्न करें, पर हमारा विश्वास सा है कि यदि परिस्थिति में उचित और शीघ्र परिवर्तन न हुआ तो महासभा का प्रयत्न निष्फल होगा। हिंदू संगठनात्मक आंदोलन में प्रतिक्रिया और विरोध भावना का समावेश हो गया है। हिंदू महासभा के समने

राष्ट्रहित की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण तथा उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य आ गया है। इसलिए हमारा प्रथम अनुरोध हिंदू महासभा से यह है कि वह इस विरोध और प्रतिशोध के काँटे को हिंदू संगठन की छाती से निकाले। यदि हिंदू महासभा इस काम को करने में हीला हवाली करेगी तो वह देश के प्रति विश्वासघात करेगी।

हिंदू महासभा से हमारा दूसरा अनुरोध इस प्रकार है कि हिंदू संगठन को अधिक राष्ट्रोपयोगी बनाने के लिए उसे समाज सुधार आंदोलन का रूप दिया जाना चाहिए। हिंदू समाज का सार्वजनिक जीवन विषमय हो रहा है। प्रत्येक विचारशील हिंदू यह अनुभव कर रहा है कि उसकी सामाजिक परिस्थितियाँ उसके उन्नति मार्ग में बाधा स्वरूप हो रही हैं, गद्दीघरों के मंदिर, समाज के गिरते हुए नैतिक जीवन और दिन पर दिन बढ़ते हुए बाबा बैरागियों के अत्याचारों ने हिंदू की सामाजिक दशा को करूणामय बना दिया है। हिंदूओं की सामाजिक आर्थिक और मानसिक परिस्थिति में सुधार होने की आवश्यकता है। इस समय हिंदू महासभा हिंदू समाज की प्रतिनिधि महासभा है। इस कारण से समाज की कुरीतियों को सुधारने का काम हिंदू महासभा जितनी अच्छी तरह से कर सकती है, उतनी अच्छी तरह से इस काम को कोई संस्था नहीं कर सकती। काम को प्रारंभ करने के कई तरीके हो सकते हैं। यदि हम इस स्थान पर काम करने के किसी तरीके को रखे तो हम अहंता भाव के दोषी न समझे जाएंगे, ऐसी आशा है। कार्यारंभ के पहले हिंदू महासभा के कार्य संचालकों को काम करने के मार्ग की एक समुचित परिपाटी निश्चय कर लेना चाहिए। हिंदू समाज का मुख्य जीवन मुख्य रूपेण तीन भाग- सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक विभागों में बाँटा जा सकता है। हिंदू महासभा को चाहिए कि वह हिंदुओं के जीवन के इन तीन विभागों में सुधार करने का प्रयत्न करें। हिंदू समाज की बनावट ऐसी है कि इसमें जीवन अंशों में विभक्त नहीं किया जा सकता, परंतु हम केवल कार्य की सहूलियत की दृष्टि से इस प्रकार का विभाजन करने को बाध्य हुए हैं।

यदि कोई ध्यान से देखे तो हमारा धार्मिक जीवन बहुत गड़बड़ है। एक छोर से लगाकर दूसरे छोर तक गड़बड़ अध्याय हो रहा है। उदाहरण के लिए

इतना ही काफी होगा कि हम अपने धार्मिक जीवन के केंद्रीभूत होने के स्थानों के नाम गिना जावें। हमारे (1) मंदिर (2) तीर्थ (3) संस्कार और (4) बाबा बैरागी। आज धार्मिक जीवन को जितना मैला कर रहे हैं इसे हर एक हिंदू जानता है। हम हिंदू महासभा से प्रार्थना करेंगे कि वह अकालियों के 'शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी' की तरह एक मंदिर समिति की संयोजना करें, देश के प्रसिद्ध पुरुषों का इसमें समावेश हो। इस कमेटी को चाहिए कि वह हिंदू मंदिरों में होने वाले अनाचारों का उन्मूलन करे और मंदिरों के सुप्रबंध का उत्तरदायित्व अपने हाथों में ले। इसी प्रकार इस कमेटी को अखिल हिंदू महासभा अपनी महती महासभा में यह अधिकार भी दे दे, कि वह मंदिरों में लगी हुई स्थावर जंगम संपत्ति कुछ राजसी विलासी गद्दीघरों की निजी संपत्ति बनी हुई है, इस धन के दुरुपयोग को देखकर देश के प्रत्येक हितैषी की आत्मा रोती है। प्रत्येक समझदार हिंदू अब यह अनुभव करने लगा है कि गद्दीघरों का द्रव्यार्पण करना अपने परमेश्वर और आत्मस्थित ईश्वर की पुनीत आज्ञा का उल्लंघन करना है। गद्दीघरों की दशा इस प्रकार हो रही है -

तिलक लगाए चले स्वामी है, युवतिन के मन मोहे

अगर हिंदू सभा को हिंदू समाज की सच्ची सेवा करना अभिष्ट है तो मंदिरों का सुधार अवश्य होना चाहिए। दूसरा प्रश्न तीर्थ संबंधित है हरिद्वार, वाराणसी, अयोध्या, प्रयाग, अवंतिका आदि तीर्थों की दशा जिन सज्जनों ने देखी है, उनसे यह बात छिपी नहीं है कि हमारे वर्तमान तीर्थ वेश्यागृहों के सदृश अपवित्र हैं। प्रयाग के भारद्वाज आश्रम की यात्रा करने वाले से यदि पाठक पूछें तो हमारे वाक्यों की सत्यता प्रकट हो जाएगी। क्या आज एक भी हिंदू ऐसा नहीं रहा जो अपनी बातों के विषय में कुछ स्पष्ट विचार करता? आज तीर्थों में अनेक प्रकार के पाखंड का पोषण किया जाता है? स्वामी दयानन्द सरस्वती ने जिस समय हिंदू समाज को कोड़ा लगाया था, उस समय पीठ तिलमिला उठी थी, पर आज हमारे पवित्र वेदपाठी आचार्य क्या करते हैं? हमारी हिंदू महासभा ने इन तीर्थों में प्रचलित दुष्टताओं के उन्मूलन के लिए आज तक क्या किया? और यदि आज उसने कुछ नहीं किया तो क्या अब भी वह कुछ न कर सकेगी?

पंडों, गुंडों और कुटनियों से अपनी बहु, बेटियों की रक्षा करना हमारा कर्तव्य है। हिंदू महासभा को चाहिए कि वह तीर्थ सुधार समिति की रचना करके समाज का उपकार करे। तीर्थ सुधार के साथ ही इस बात के सुधार की आवश्यकता है कि हिंदू जाति की 'अन्धेनेवनीय माना यथान्थाः' वत् प्रगति को रोका जाए। पर्वों के अवसर पर अत्यधिक भीड़ का उमड़ पड़ना हमारी अंध परंपरा का द्योतक है। हिंदू महासभा अपने उपदेशकों द्वारा इस दिशा में भी बहुत कुछ काम कर सकती है। हमारे धार्मिक संस्कारों में आजकल कैसा उपहास होता है? जन्म से लगाकर मृत्यु पर्यन्त और मृत्यु उपरांत भी हम न जाने किस अज्ञात विधि-विधान के वशीभूत रहते हैं। हमने गंगा के किनारे मूर्ख मंडली का नाटक देखा है। जाड़े के दिनों में ठिठुरता हुआ फटी धोती पहने गीले बदन यमजान खड़ा रहता है। पंडा चिल्ला-चिल्लाकर कहता है- 'कबूल, अरे सरऊ कबूल, नहीं तो दिहो याक ध्यांचा।'

यह हमारा धार्मिक संस्कार है। स्पष्ट और नग्न चित्रण के लिए हमें क्षमा किया जाए, परंतु हमारा मर्ज बहुत पुराना है। स्पष्ट कथन की आवश्यकता पड़ती है। हिंदू महासभा को चाहिए कि वह संस्कार संबंधी एक सरल पुस्तिका प्रकाशित करे, जो जन्मांतरों के आचार्यों द्वारा अनुमोदित हो। ऐसा करने से उससे कई पुरोहित प्रताड़ित अज्ञ, निर्धन हिंदुओं को सहायता मिलेगी। ऊपर हमने हिंदुओं के धार्मिक जीवन की तीन कुरीतियों का वर्णन और उन कुरीतियों के सुधार का मार्ग अत्यंत सूक्ष्म में दर्शा दिया है। हमारे समाज में चौथा सड़ा हुआ अंग बाबा बैरागियों का है। ये आलस्य, दुराचार, घृणित जीवन और पाखंड की चलती फिरती मूर्तियाँ हमारे समाज की कितनी अधिक क्षति करती हैं, इसको बतलाने की आवश्यकता नहीं है। आज कोई कहे कि वह इस संस्था को उन्मूलित कर देगा तो यह संभव नहीं। जब तक हिंदू धर्म में चारो आश्रम रहेंगे, तब तक बाबा बैरागी भी रहेंगे। अतः इस फिरके में सुधार होना असंभव है। हमारे शंकाराचार्यों को इस विषय पर विशेष ध्यान देना चाहिए। यदि वे बाबा बैरागी समाज के निःशुल्क सेवी बन जाए तो हमारी कई कठिनताएँ सहज में हल हो सकती हैं। इन सब कार्यों को अगर कोई

संस्था कर सकती है तो यह हिंदू महासभा है। क्या हम आशा करें कि वह इस कार्य को करने का कष्ट उठावेगी?

ऊपर हमने सूक्ष्म में केवल हिंदू समाज के एक अंग की बुराई की है, और हिंदू महासभा का ध्यान आकर्षित कराया है, वो भी बहुत थोड़े में। अन्याय विषयों पर भी बहुत कुछ लिखा जा सकता है। हिंदू महासभा के संचालक विज्ञ है। आशा है, वे इस ओर ध्यान देने की कृपा करेंगे। हमारी लघु सम्मति में अंतर्जातीय विद्वेष की ओर से दृष्टि हटाकर जातीय सुसंगठन और सुधार की ओर दृष्टिपात करना अंततोगत्वा राष्ट्र और अखिल हिंदू समाज दोनों के लिए हितकर होगा।

समुद्र मंथन -

साम्प्रदायिकता के ही सवाल पर गणेश जी ने यह लेख, 8 अगस्त 1926 को लिखा था और हिंदू-मुसलमान दोनों को एक ही माँ के बेटे कहकर उनके बीच के टकराव को समुद्र-मंथन की पौराणिक कथा से जोड़ते हुए साम्प्रदायिकता- विरोधी तत्कालीन प्रयासों के प्रति आशावान दिखाई दिए थे। कहा था- “जातिगत वैमनस्य की बहती हुई इस विषक्त आँधी में हम कुछ ऐसे रजकण उड़ते देख रहे हैं जो स्वयं जगदीश विश्वंभर की चरण रेणु के स्पर्श से पुनीत और प्रसादित हो चुके हैं।

पुराने जमाने में एक माँ की कोख से पैदा हुए दो विभिन्न प्रकृति के बेटों ने युद्ध किया था। खूब घमासान लड़ाई हुई थी। खून की नदियाँ बहीं। फिर वे थक गए। कुछ शांत हुए उन दोनों ने मिलकर अपनी युद्धप्रवृत्ति दूसरी ओर लगा दिया। वे समुद्र मंथन करने लगे। और जब दोनों ने मिलकर समुद्र मंथन का कठिन कार्य प्रारंभ किया तब अचल मंदर मेरू भी खिसक गया, शेषनाग अपने सहस्र फनों को लेकर उनकी सहायता के लिए रेंग आए, स्वयं भगवान भी उनके सहयोग भावना को देखने दौड़े। उस समय, जब कल तक एक दूसरे का खून चूसने वालों ने आज सहयोग कर लिया, तब जगतपति का सिंहासन भी हिल गया और जड़ चेतन सबने मिलकर उसकी विजय कामना के गीत गाए। विश्व नाटक के अदृष्ट सूत्रधार ने उनके हाथों में शक्ति दी, वे

भगवान में और भगवान उनमें रम गए। समुद्र मंथन के बाद जब रत्न निकले, तब भी युद्ध हुआ था, दोनों दल उस समय भी तन गए थे। वह युद्ध अमरत्व प्राप्ति के लिए था। वह तो पुराना जमाना था। उस समय धर्म युद्ध होता था, पाप युद्ध नहीं। आजकल एक माता के दो प्रकार के बेटे हिंदू और मुसलमान, एक दूसरे का गला नाप रहे हैं। लेकिन इस हाहाकार में, रक्त और मज्जा के इस कीचड़ में राष्ट्रीयता के इन क्षणों में, धर्म के नाम पर अधर्म की इस बेला में आज समुद्र मंथन की तैयारी के चिन्ह दिखलाई पड़ने लगे हैं। जातिगत वैमनस्य की बहती हुई इस विषक्त आँधी में, हम कुछ ऐसे रजकण उड़ते देख रहे हैं, जो स्वयं जगदीश विश्वंभर की चरण रेणु के स्पर्श से पुनीत और प्रसादित हो चुके हैं। सर्वनाश जब सामने खड़ा हो, जिस समय देश का क्षितिज विद्वेष, विरोध और कर्तव्य विमूढ़ता के अंधकार से आक्रांत हो चुका हो, उस समय आगे के उजाले की कल्पना करना भोलापन है, मुखरता है, आत्म विभ्रम है, क्यों न? इस समय ऐसा कोई बिरला ही होगा जो इस अविश्वास और इस मारक घात प्रतिघात का अंत होते देख रहा हो। और भविष्य के गर्भ में छिपी हुई प्रकाश किरणों को देखने का जो आदमी दम भरता है वह तो पागल ही है, इसमें भी क्या कुछ शक है? छिछले व्यवहार के ज्ञान सैकड़ों कूप से तो यह ध्वनि उठती है। पर इसके अलावा भी इस कुँए के अतिरिक्त भी एक और जल निधि है, वह है कुछ आदर्शवादी का क्षीर सागर। उसके किनारे खड़े होकर जब कुछ उपासक लोग आवाज लगाते हैं तब दूसरे किनारे से एक प्रतिध्वनि उठती है। और वह प्रतिध्वनि आशा और नव प्रभात का संदेश उन्हें सुनाती है। ऐसी आदर्श उपासना की कद्र वे लोग नहीं करते जिनकी आँखे केवल वर्तमान कालिक घटनाओं के घटाटोप से आवृत रहती है। व्यवहार चातुरी के भक्त इस आशावादिता को मुखरता कहते हैं। शायद दूर की बात देखने वाला मूर्ख हो। यह आदमी या वह व्यक्ति समूह जो वर्तमान के बंधनों में बंधने से इंकार कर देता है। शायद भोलेपन की प्रतिभा हो। परंतु वह इतना भोला नहीं जितना कि लोग उसे समझते हैं। कटुता के इस युग में, आज हम कहने का साहस करते हैं कि भारत की झलक दिखलाई पड़ती है।

अब समुद्र मंथन के लक्षण दृष्टिगोचर हो रहे हैं। बिहार, बंगाल, संयुक्त प्रांत, पंजाब सब तरफ आज ऐक्य और सद्भावना को पुनर्जीवित करने के प्रयत्न प्रारंभ हो गए हैं। पंडित मोतीलाल नेहरू, मौलाना अबूलकलाम आजाद, हकीम अजमल खां, डॉक्टर अंसारी, राजा साहब महमूदाबाद, आदि हिंदू मुस्लिम नेताओं ने मिलकर एक विज्ञप्ति निकाली है ये नेता गण जाति वैमनस्य के इन बवंडरों के कारण व्याकुल हो उठे हैं। इधर बिहार में मौलाना मजरूल हक तथा अन्य नेतागण पटना में हिंदूओं पर किए गए अत्याचारों को देखकर सिहर उठे हैं। वे उन मुसलमानों की नींव रहे हैं जिन्होंने हिंदुओं पर ऐसे अत्याचार किए। बंगाल प्रांतीय मुस्लिम लीग के मंत्री श्रीयुत् कुतुबुद्दीन साहब ने, मुस्लिम लीग की सेक्रेटरी के हैसियत से- अपने वैयक्तिक रूप में नहीं- एक विज्ञप्ति प्रकाशित करके इस बात का विरोध किया है कि मुसलमान लोग हिंदूओं को मस्जिद के सामने बाजा बजाने से रोके। उन्होंने यह बात तो बड़े स्पष्टरूप से कह दी है कि बाजा बजने या न बजने का प्रश्न है ही नहीं। वे कहते हैं कि हमारे पैगम्बर हजरत मोहम्मद साहब ने ईद के त्योहार के दिन बाजा बजने की इजाजत दी थी और हजरत आयशा ने बाजा बजते देखने को कहा था। उन्होंने यमन के गैर मुस्लिम राजदूतों को मस्जिद में ठहराया था। कुस्तुनतुनिया में खिलाफतुल मुसलमीन शुक्रवार को 'सलाम अलेक' प्रथा में सम्मिलित होते थे और उस समय तुर्की बैंड सेट सोफिया मस्जिद के सामने बजाता था। मिस्र में मक्का शरीफ को हमहलका जुलूस बाजे के साथ आता रहा है। मुसलमानी शासन काल में जुम्माय मस्जिद के सामने रामलीला होती थी। राज कुटुंब के लोग उक्त मस्जिद में एकत्रित होते और रामलीला के नायक को माला पहनाते थे। इस सवाल (बाजे के प्रश्न) का शरीयत से कोई ताल्लुक नहीं है।, और कुछ स्वार्थ लोलुप आदमियों ने इस बात को कुरबानी के जवाब में उठाकर खड़ा कर दिया है। अभी पंजाब के नवयुवक संघ में भाषण देते हुए डॉक्टर किचलू ने जो भाव व्यक्त किए हैं वे भी स्तुत्य हैं। श्रीयुत् अयूब नामक एक सज्जन ने अगस्त के 'माडर्न रिव्यू' में हिंदू-मुस्लिम ऐक्य पर बड़ा मार्क का लेख लिखा है। उस लेख में उन्होंने सर अब्दुरहीम की अलीगढ़ वाली स्पीच की बहुत कड़ी आलोचना की है। उस समय भाषण

को उन्होंने चरम कट्टरता और धर्मांधता से परिप्लावित कहा है। अपने लेख के अंत में उन्होंने जो भाव व्यक्त किए हैं वे इतने सहृदयता और सत्यता पूर्ण हैं कि प्रत्येक देश प्रेमी को उनपर मनन करना चाहिए। वे कहते हैं, क्या सर अब्दुरहीम इस बात की गारंटी करते हैं कि भारतीय मुसलमान अरब, अफगानिस्तान, फारस या तुर्की को अपनी मातृभूमि कह सकने के उत्तराधिकारी हैं। इस दुनिया भर में भारतीय मुसलमानों का सिवाय अपने भारतवर्ष के और किसी देश पर कोई अधिकार नहीं है और इसलिए देश का पुनरूत्थान करना उनका परम कर्तव्य है। हिंदू और मुसलमान भारत के अविच्छेदनीय बंधु हैं। भारत के लिए महान बलिदान करने की आवश्यकता है और यदि समूचे देश के कल्याण के लिए जातिगत हिंत्तों की बात करनी पड़े तो वह भी करनी चाहिए। हमें पहले स्वराज्य की ओर पेश कदम होना चाहिए था और सब चीजें बाद में आप ही सिद्ध हो जाएगीं। अब समय आन पहुँचा है कि भारत के सपूत उठ खड़े हो और गुलामी की चिता को बुझा दे और अपने देश को स्वतंत्र निर्बंध घोषित कर दें। हिंदू और मुसलमान समाज के कुछ परम शुभ-चिंतक आज इस प्रकार की बातों का प्रचार कर रहे हैं। इसलिए हृदय में आशा संचारित हो रही है कि नवीन प्रकाश के नव्य किरणों के आगमन का काल सन्निकट आ रहा है। लेकिन संदेहवादी दोनों समाजों में मौजूद हैं। वे कहते हैं, यह क्या कहते हो? कहीं हिंदू मुसलमानों में मेल हो सकता है? कुरान की शिक्षा ही अनुदार बनाने वाली है। मार-काट और निर्दयता की कठोर व्यवहार-शिला पर मुस्लिम धर्म की नींव पड़ी है। हममें और उसमें मेल कैसा? दूसरी ओर आवाज आती है- काफिरों से मेल कैसा? ये बुतपरस्त हैं, इनके धर्म में ऊंच नीच का संकुचित भाव सन्निहित है। हमें 'मलेच्छ' कहकर संबोधित करते हैं। उसमें मेल नहीं हो सकता है। हम अपने पाठकों को विश्वास दिलाना चाहते हैं कि हमारी इच्छा तिनकों का भवन खड़ा करने का नहीं है। हम हिंदू मुस्लिम ऐक्य का सब्जबाग दिखाकर न तो हिंदूओं ही की ओर न मुसमानों ही की, यथार्थ परिस्थिति से आँख मूंदने को कहते हैं। हम यह जानते हैं कि एक दूसरे के परंपरा से आगत विश्वासों में गहरा अंतर है। परंतु राष्ट्रों और समाजों का उत्थान मतभेदों और विभिन्नताओं के प्रदर्शन से नहीं होता। यदि हिंदूओं में अनुदारता है तो धर्म,

देश, समाज-व्यवस्था और संस्कृति के रक्षा के नाम पर वह संकुचित अनुदारता उन्हें दूर करनी होगी। यदि मुसलमानों के परंपरागत विश्वास, वर्तमान मानव स्वभाव की उच्चतम शालीनता के अनुकूल नहीं हैं, तो उन्हें भी इसमें परिवर्तन करना पड़ेगा। अन्य मुस्लिम देश के निवासियों ने युग धर्म की आवश्यकता अनुभव की है। क्या भारतीय मुसलमान युग धर्म की लपेट से बच सकते हैं, कोई भी युग धर्म की लहर से नहीं बच सकता। सब को उसके अनुकूल अपने को बनाना पड़ेगा। उज्ज्वल भविष्य की आशा हमारे मन में काम करती है। निराश होने का अर्थ यह होगा कि हम मनुष्य के उत्क्रांत शील स्वभाव में विश्वास नहीं करते हैं। हमारा दृढ़ विश्वास है कि मनुष्य की प्रगति देवत्व की ओर हो रही है। पशुत्व की ओर नहीं। यही कारण है कि आज भारतवर्ष में हमें समुद्रमंथन के चिन्ह दिखाई पड़ रहे हैं। इतिहास साक्षी है कि इस प्रकार के अंधकार के बाद प्रकाश की किरणें अवश्य आती हैं। अठारहवीं शताब्दी के मध्य भाग में फ्रांस में भी धार्मिक कट्टरता का एक ऐसा ही तूफान आया था। धार्मिक अत्याचार बढ़ रहा था। प्रोटेस्टेन्ट लोगों को नष्ट करने और उन्हें तितर बितर करने के लिए सरकारी फौजों तक से काम लिया गया। धर्म ढोंगी पादरी लोग बड़े प्रसन्न थे। वे अन्य सम्प्रदाय के पादरियों को फाँसी पर लटकते देखने को लालायित थे। उन्होंने समझा कि आज से फिर हमारे विजय के दिन प्रारंभ हुए। लेकिन चालीस बरस भी बीतने न पाए कि फ्रांस में कट्टरता का समूल उच्छेदन हो गया। हमारे देश में इस समय जातिगत वैमनस्य और आसुरी विद्वेष खूब फैल रहा है। लेकिन कुछ आत्माएँ ऐसी हैं जो हृदय सिंधु की तैयारी कर रही हैं और हमारा विश्वास है कि इस समुद्र मंथन से देश के लिए अमृत प्राप्त होगा।



धार्मिक राष्ट्रीयता बनाम आर्थिक राष्ट्रवाद

- किशन पटनायक

संघ परिवार की विचारधारा के केन्द्र में राष्ट्र और राष्ट्रीयता है, न कि धर्म। धर्म उसकी राष्ट्रीयता का आधार है। संघ परिवार के लिए धर्म का मतलब हिंदू संप्रदाय है। जब-जब हिंदू समुदाय के अर्थ में भारतीय राष्ट्र, परिभाषित होगा, तब-तब संघ परिवार का राष्ट्रवाद प्रभावी और विश्वसनीय होगा। हिन्दू समाज और भारतीय राष्ट्र को एकाकार करने की रणनीति भाजपा की राजनीति है।

1962 को एक काल बिन्दु माना जा सकता है, जिसके पहले भारतीय राष्ट्र को हिंदू समुदाय के अन्दर सीमित करके देखने की मानसिकता नहीं के बराबर थी। उसके बाद अगर यह मानसिकता बढ़ रही है तो इसलिए नहीं कि लोग अपने राष्ट्र को हिंदू राष्ट्र के रूप में देखना चाहते थे, बल्कि इसलिए कि हिंदू राष्ट्र ही एकमात्र भारतीय राष्ट्र है, जो दृश्यमान है, जिसे लेकर राजनीति में चिंता और गर्व है और किसी भारतीय राष्ट्र के बारे में गर्व करने की या उसे दुनिया में आदर्श के रूप में स्थापित करने की बात ही नहीं होती है।

जो जितना बड़ा धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीवी है, उसके लिए 'भारत माता' का उच्चारण उतना ही लज्जाजनक है। यह बात सामने आयी जब प्रधानमंत्री नेहरू ने चीन अधिकृत हजारों वर्ग किलोमीटर जमीन को 'बंजर और ऊसर' कहकर भारतवासियों को यह संदेश दिया कि इस भूमि पर चीन का कब्जा होना हमारी नींद खराब करने का कारण नहीं बनता। अपने देश को भारत माता कहने वाला आदमी इस प्रकार का बयान नहीं दे सकता था। युवा नेहरू काफी हद तक गाँधी प्रभावित था। एक भौगोलिक इकाई के बारे में भावुक होना उसके स्वभाव के विरुद्ध नहीं था।

देश को भूगोल कहना बौद्धिक है, मिट्टी और पत्थर को माता कहना गँवारपन है और भावुक स्वभाव का लक्षण है। धर्मनिरपेक्षता का औसत नेता

और औसत बुद्धिजीवी जाने-अनजाने उस दार्शनिक बहस का पक्षधर है, जिसके अनुसार बौद्धिकता और भावुकता परस्पर विरोधी तत्व हैं। और मनुष्य का कर्म भावना के द्वारा नहीं, तर्क तथा गणित के द्वारा परिचालित होना चाहिए। इसी बहस ने भारतीय बुद्धिजीवी को एक पिछली किस्म का अंतर्राष्ट्रीयतावादी बना दिया है। दरअसल, उनकी अंतर्राष्ट्रीयता एक छद्म है और राष्ट्रीय जिम्मेदारियों से पलायन का उपाय है। वे या तो अंतर्राष्ट्रीयतावादी बनेंगे या फिर क्षेत्रीयतावादी बनेंगे, लेकिन राष्ट्रवादी नहीं बनेंगे। यूरोपीय मानवतावाद का जो अनुकरण तीसरी दुनिया के देशों के बौद्धिक जगत में हुआ, यह उसी का परिणाम है। एक यह सिद्धान्त (थियोरी) भी बनता जा रहा है कि राष्ट्र राज्य (नेशन स्टेट) का जमाना लद गया है। अब तो विश्वयारी (कस्मोपॉलिटॉनिज़्म) का नया युग आ चुका है। व्यवहार में यह विश्वयारी उपभोक्तावादी सुख और कमोत्तेजना के अनुसंधान के अलावा और कुछ नहीं है। अपने चारों ओर फैली हुई अमानवीय स्थितियों और सम्बन्धों के बारे में उसकी कोई संवेदनशीलता या सरोकार रहता ही नहीं है। विश्व की बात कह कर अपने पड़ोस को नज़रंदाज करने का अच्छा बहाना मिल गया है इन विश्वयारों को। गाँव, राष्ट्र और धर्म- ये सब अपने पड़ोस के प्रति उत्तरदायी बनाने की अवधारणाएँ हैं। विश्वयारी इन तीनों बन्धनों से मुक्त होना चाहती है।

1962 के पहले के ऐतिहासिक कारणों से भारतीय राष्ट्र और राष्ट्रीयता का सर्वोच्च प्रतीक जवाहर लाल नेहरू थे। 1962 के बाद इस नेहरू वाले प्रतीक में राष्ट्र के प्रति भावना की तीव्रता नहीं दिखाई दी। धर्म निरपेक्षता के मामले में नेहरू के सबसे नजदीक कम्युनिस्ट पार्टियाँ थीं, तो 1962 में कम्युनिस्टों के देश प्रेम के बारे में जरूरत से अधिक प्रश्न चिन्ह लग गया था। उन्हीं दिनों संघ परिवार का राष्ट्रवाद पहली बार विश्वसनीय होने लगा। इसलिए नहीं कि राष्ट्रवादी संबंधी उनकी धारणा लोकप्रिय थी, बल्कि इसलिए कि संघ का राष्ट्रवाद निःसंकोच था। यही समय था जब जनसंघ के नेता (दीनदयाल उपाध्याय) का एक 'राष्ट्रीय नेता' वाली छवि बन गयी। तब से आज तक राष्ट्रवाद की भावना को एक सकारात्मक राजनैतिक मुद्दे के रूप में अनवरत

सक्रिय रखना सिर्फ संघ परिवार का कार्यक्रम रहा है। अन्य किसी राजनैतिक या बौद्धिक समूह के विचारों में यह एक प्रभावी तत्व नहीं रह गया है। पिछले पचीस साल की (लोहिया के बाद की) राजनीति के बारे में यह कहा जा सकता है कि भाजपा जन संघ को छोड़कर अन्य किसी दल या खेमा के लिए राष्ट्रवाद एक निर्णायक मुद्दा नहीं रहा है।

राष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रवाद की अनिवार्यता है या नहीं? क्या एक अराष्ट्रीय विचारधारा के तहत संघ परिवार की आक्रामकता का मुकाबला किया जा सकता है? धर्म निरपेक्षतावादी बौद्धिकजन इस प्रश्न का उत्तर देंगे।

राष्ट्र की अवधारणा बहुत पुरानी है। देश के साथ-साथ उसकी एक भावना पैदा हुई है। लेकिन एक खास अर्थ में यह यूरोपीय इतिहास की देन है। राष्ट्र और राज्य की एक ही भौगोलिक परिधि होगी- इस अर्थ में राष्ट्र और राष्ट्रवाद एक आधुनिक (यूरोपीय) अवधारणा है। एक राष्ट्र का एक राज्य होगा, एक राज्य में एक राष्ट्र होगा- प्रथम विश्व युद्ध के समय तक यह सिद्धान्त यूरोप में जम चुका था और दुनिया के अन्य हिस्सों को प्रसारित हो रहा था। उसके पहले के पाँच सौ साल या उससे भी अधिक समय का यूरोपीय इतिहास आपसी युद्ध, आक्रमण और बाहरी हस्तक्षेप, दूसरी तरफ पड़ोसी देशों का आक्रमण-इन दो प्रकार के हमलों से लड़ने के लिये यूरोपीय राजनीति में राष्ट्रवाद का उदय हुआ। राष्ट्रीय भावना को जनमानस में दृढ़ करने के लिये काव्य और दर्शन के माध्यम से एक मूल्य के रूप में इसे महिमामंडित किया गया। विख्यात जर्मन दार्शनिक हेगेल ने राष्ट्र को एक आध्यात्मिक इकाई का दर्जा दिया। अगर यूरोपीय देशों में धार्मिक हस्तक्षेप और परस्पर युद्ध के कारण राष्ट्रवाद विकसित हुआ तो बाद के समय में यूरोप के साम्राज्यवादी हमले से आत्मरक्षा के उद्देश्य से गैर यूरोपीय जनसमूहों के अन्दर राष्ट्रवाद का विकास हुआ। जनसमूहों के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक प्रत्येक क्षेत्र में यूरोप का हस्तक्षेप हुआ और बढ़ता गया। अपने धर्म संस्कृति और आर्थिक सुरक्षा को स्वायत्त रखने के राजनैतिक स्तर पर अपनी अस्मिता को जागृत करना और परिभाषित करना आवश्यक हो गया।

आधुनिक सभ्यता ने जिस आर्थिक विकास पद्धति को अपनाया है, उसके चलते कोई भी जन समूह बाहरी आक्रमण और हस्तक्षेप से सुरक्षित नहीं हो सकता क्योंकि इस विकास प्रणाली में 'अपने' जन समूह को समृद्ध बनाये रखने के लिए कुछ अन्य जनसमूहों को राजनैतिक और आर्थिक रूप में निरंतर पिछड़ा बनाये रखना आवश्यक है, ताकि उनका बाजार, कच्चा माल और सस्ता श्रम अपने को उपलब्ध होता रहे। इस दोहरी दुनिया में अपना कौन है और अन्य कौन है इसका उत्तर देना पड़ता है। इसलिए औपनिवेशिक विकास पद्धति के इस युग में राष्ट्रवाद एक अपरिहार्य भावनात्मक मूल्य है। यही प्रमुख राजनैतिक अस्मिता है। किस भौगोलिक सीमा पर हम अपनी राष्ट्रीय अस्मिता का निरूपण करेंगे- वह सिर्फ हमारे ऊपर निर्भर नहीं है। हम एक बड़ा राष्ट्र बनाना चाहेंगे, बाहरी ताकतें इसे होने नहीं देंगी। यूरोप की हमेशा कोशिश रही है कि गैर यूरोपीय जनसमूहों का कोई विशाल और मजबूत राष्ट्र न बन पाये। समग्र अरब जनसमूहों का एक राष्ट्र, अफ्रीका के समूचे काले लोगों का एक राष्ट्र या अखण्ड हिन्दुस्तान जैसी संभावनाओं को यूरोप ने सफलतापूर्वक रोका है और नष्ट किया है। इसलिए कोई नहीं कह सकता है कि गैर-यूरोपीय राष्ट्रों का निर्माण बिल्कुल मनमानी ढंग से, जरूरत से बड़े आकार में हो गया है।

यूरोप के अधीनस्थ देशों के जितने राष्ट्र बने हैं, उनका निर्माण घोर प्रतिकूल दबावों के बावजूद हुआ है। इसलिए उनकी राष्ट्रीयता व्यवहारिक सीमाओं के अंदर निरूपित हुई है और प्रामाणिक है।

जहाँ एक राष्ट्र जानबूझ कर साम्राज्यवादी नहीं है अगर वहाँ का राष्ट्रवाद भी संकीर्ण या आक्रामक रवैया प्रदर्शित करता है तो उसका असली कारण आधुनिक विकास पद्धति है। अगर भारतीय राष्ट्र देश के आदिवासी जनसमूहों को पिछड़ा रखना चाहता है, तो इसका कारण राष्ट्रवाद नहीं है। इसका कारण है विकास पद्धति। इस समस्या का समाधान अलगाववाद या विच्छिन्नतावाद नहीं है। मौजूदा पद्धति को बदलना ही इसका स्थायी प्रतिकार है। विकास पद्धति को बदलने से राष्ट्रवाद की बहुत सारी रूढ़ियाँ खत्म हो जायेंगी।

यह कहा जा चुका है कि राष्ट्रवाद की प्रेरणा भले यूरोप से आयी हो लेकिन यूरोप की हमेशा यह कोशिश रही है कि एशिया-अफ्रीका में राष्ट्रवाद

बन न पाये। यह कोशिश सिर्फ यूरोप की सरकारों तक सीमित नहीं है। यूरोप के बुद्धिजीवी का हमेशा यह रुख रहा है कि गैर-यूरोपीय जनसमूहों के लोग अपना कोई स्वतंत्र ज्ञान विकसित न करें। विभिन्न क्षेत्रों में चल रही, अपनी पारंपरिक प्रणालियों को संजीवित न करें, संवर्धित न करें। आश्चर्य की बात है कि कम्युनिस्ट बुद्धिजीवियों का भी यह रुख रहा, बल्कि अधिक रहा।

भारतीय कम्युनिस्ट तो यहाँ तक चले गये कि उन्होंने रणकौशल के स्तर पर भी राष्ट्रीय भावना को त्याग दिया। वियतनाम और चीन के कम्युनिस्टों और भारत के कम्युनिस्टों में बुनियादी अन्तर यही है। अन्यथा कोई कारण नहीं है कि चीन और वियतनाम की तरह भारत में भी कम्युनिस्टों को सफलता न मिलती। जब भविष्य का लेखक भारत में कम्युनिस्ट क्रांति की विफलता का विश्लेषण करेगा, उसकी इच्छा यह कहने की होगी कि 1990 के सोवियत पतन का इस पर बहुत बुरा असर पड़ा। यह उसकी गलती होगी। भारत में कम्युनिस्टों की वर्तमान विफलता के पीछे सोवियत विघटन का रत्ती भर भी कारण नहीं है। भारत के समाजवादियों की तुलना में कम्युनिस्ट अधिक संगठित और प्रभावशाली रहे हैं। इसमें कोई शक नहीं कि कम्युनिस्ट आंदोलन क्रांतिकारी था। लेकिन अराष्ट्रीय होने के कारण राष्ट्रीय समाज की समस्याओं का उसे ज्ञान नहीं हो पाया। समस्याओं के बारे में सही नीति अपनाने के बजाय वह वास्तविकता से दूर हटता गया।

1947 के बाद के भारत में पूँजीवादी-उदारवादी बुद्धिजीवी और कम्युनिस्ट बुद्धिजीवी- इन दो समूहों के द्वारा शिक्षित सामाज की वैचारिक समझ प्रभावित थी। (समाजवादियों का प्रभाव नगण्य था। 1970 के पहले तक संघ परिवार का बौद्धिक प्रभाव उल्लेखनीय नहीं था) भारत का उत्तरवादी अक्सर अराष्ट्रीय होता है, लेकिन वह आचरण में ही अराष्ट्रीय होता है। सिद्धान्त के तौर पर या लेख लिखकर वे राष्ट्रवाद का विरोध नहीं करते। राष्ट्रवाद के विरुद्ध सबसे लम्बे निबन्ध मार्क्सवादियों ने लिखे हैं। उन्होंने लिखा है कि राष्ट्रवाद का मतलब पड़ोसियों पर हमला करने वाला राष्ट्रवाद है। हालाँकि खुश्चेव की भारत यात्रा के बाद से अभी तक पाकिस्तान विरोधी बयान देने में और पाकिस्तान को भारत के एकमात्र दुश्मन के रूप में घोषित करने में कम्युनिस्ट

पार्टियाँ भाजपा के पीछे नहीं रहीं या किसी के पीछे रहीं तो सिर्फ भाजपा के । कम्युनिस्टों की दृष्टि में शायद गाँधी जी एक उग्र राष्ट्रवादी (शाविनिस्ट) नेता थे, क्योंकि वे धर्म के आधार पर भारत के विभाजन के कट्टर विरोधी थे। यह सचमुच इतिहास की एक विडंबना है जब कम्युनिस्ट कहते हैं कि राजनीति से धर्म को बहिष्कृत करना होगा। यह बात याद करने के काबिल है कि आजादी आंदोलन के एक नाजुक समय में उनकी पार्टी ने धर्म को आधार मानकर पाकिस्तानी राष्ट्रीयता का समर्थन किया था। इसका मतलब यह नहीं कि कम्युनिस्ट धर्मवादी हो गये थे, इसका मतलब सिर्फ इतना है कि राष्ट्र और राष्ट्रीयता के बारे में कम्युनिस्टों की समझदारी कभी भी नहीं बन पाई है। उनकी दिक्कत यह है कि जब वे गलतियों को बहुत दिनों बाद स्वीकारते हैं, यह स्वीकार एक औपचारिक कार्य होकर रह जाता है। गहराई में जाकर वे प्रायश्चित्त नहीं करते। प्रायश्चित्त न करने पर गलतियों का संस्कार मन में रह जाता है। 1942 की गलती को वे मान चुके हैं, फिर भी राष्ट्र संबंधी उनकी अवधारणा साफ नहीं हुई है। बाबरी मस्जिद टूटने के बाद वे कहते हैं कि धर्म संबंधी उनकी अवधारणा गलत थी, लेकिन क्या वे धर्म संबंधी एक स्पष्ट धारणा बनाने जा रहे हैं? मनुष्य के इन दो आधारभूत तत्वों (धर्म और राष्ट्र) के बारे में विचारशून्यता के कारण मस्जिद टूटने का सबसे बड़ा धक्का कम्युनिस्ट खेमा को लगा है। उनका खेमा बिल्कुल हिल गया है। वे ढकेल दिये गये हैं। 1977 की पूर्व की स्थिति को, जब वे ब्रेझनेव की सलाह मानकर कांग्रेस पर आश्रित हो गये थे। अपने बल पर सांप्रदायिकता की शक्तियों से लड़ने का आत्मविश्वास उनमें बिलकुल नहीं है। वे न सिर्फ स्वयं कांग्रेस खेमे के सहयोगी होना चाहते हैं, बल्कि समूचे गैर-भाजपायी विपक्ष को कांग्रेस खेमे के साथ जोड़ने की कोशिश कर रहे हैं। वे अगले चुनाव में, प्रत्यक्ष या परोक्ष ढंग से जानबूझकर कांग्रेस को मदद करने की गंभीर गलती करने जा रहे हैं।

भारतीय कम्युनिस्टों की आलोचना का कतई यह मतलब नहीं है कि भारतीय समाजवादी उनसे बेहतर रहे हैं। कुछ अपवादों को छोड़कर यह कहा जा सकता है कि समाजवादी आंदोलन की अपनी विचारधारा कभी नहीं बन

पाई है। समाजवादी विचारों का एक हिस्सा पूँजीवादी उदारवादी विचार का अनुकरण है तो दूसरा हिस्सा कम्युनिस्ट विचारों की छाया है। एक मौलिक दर्शन के तहत इन दो हिस्सों का सृजनात्मक समन्वय डॉ० लोहिया के चिन्तन और व्यक्तित्व में देखने को मिलता है, लेकिन उनके अनुयायियों की अयोग्यता के कारण इसकी धारावाहिकता और व्यापकता खत्म हो चुकी है। वर्तमान भारत के समाजवादियों ने लोहिया के कार्यक्रमों को अलग-अलग करके माना है, लेकिन समाजवाद की न कोई वैचारिक धारा रह गई है, न कोई समग्र आंदोलन दिखाई देता है। राष्ट्रीयता या राष्ट्रवाद के संबंध में उनकी भी कोई स्पष्ट समझदारी नहीं है जो प्रचारित हो सके। इतना तो हर एक समाजवादी कह देगा कि धर्म के द्वारा राष्ट्रीयता को परिभाषित करना गलत है लेकिन राष्ट्रीयता या राष्ट्रवादी किसी काम की चीज है या नहीं, इसके बारे में एक औसत समाजवादी कुछ भी कह नहीं पायेगा। राष्ट्र के बारे में और खासकर राष्ट्रवाद के बारे में अभी भी बहुत सारे समाजवादियों की सोच कम्युनिस्टों की जैसी है।

राष्ट्रीयता कहिए, राष्ट्रवाद कहिए, अस्मिता कहिए या मिथक कहिए, बात एक है। अपनी भौगोलिक इकाई को अगर इस मिथक के सहारे आप एक भावनात्मक इकाई का दर्जा नहीं देते हैं, तो उसकी सीमाओं के अन्दर रहने वाले जनसमूह के समग्र विकास और सामूहिक उत्थान के लिए आप समर्पित होकर कार्य नहीं कर सकते। इस जनसमूह के एक-एक व्यक्ति से संबंध स्थापित करने का दूसरा कोई उपाय नहीं है- सिवाय इस भावनात्मक सूत्र के। धर्म, संस्कृति, भाषा, राष्ट्र और गाँव- ये अलग-अलग उद्देश्यों के लिये अलग-अलग भावनात्मक इकाइयाँ हैं। इन मिथकों की आवश्यकता सामान्य जन और बुद्धिजीवी दोनों के लिये सामान मात्रा में है। ऐसा नहीं कि बुद्धिजीवी के लिए इनकी जरूरत नहीं है। अगर इन मिथकों का नियंत्रण बुद्धिजीवी पर नहीं रहेगा, तो यह मानव समाज के लिए विध्वंसक हो जायेगा। राष्ट्र के लिए वह विश्वासघातक हो जायेगा। वह अपनी बुद्धि को भाड़े पर लगा देगा।

तीसरी दुनिया के देशों में, जहाँ राष्ट्रीय भावना की कमी हो गयी है, ऐसा ही हो रहा है। बुद्धिजीवी अपनी बुद्धि को भाड़े पर लगा रहा है। इस वक्त

यूरोप, अमेरिका और जापान में राष्ट्रीय भावना सबसे अधिक मात्रा में है, तो सबसे कम भारत जैसे देश के बुद्धिजीवी समूहों में है। लातीन अमेरिका, अफ्रीका और भारतवर्ष के शासक वर्ग का एक बड़ा और महत्वपूर्ण हिस्सा साम्राज्यवादियों का पिछलग्गू है। यह तबका इतना बड़ा है कि इसे देशद्रोही कहना राष्ट्र को कलंकित करना होगा। इसलिए इसको राष्ट्रद्रोही नहीं कहना चाहिए, उसके चरित्र के बारे में सचेत रहना चाहिए। निजी स्वार्थ के लिए इस तबके के लोग अपने देश के भविष्य-हित को बेच रहे हैं। 6 दिसम्बर के बाद जो सबसे बड़ा शर्मनाक काम हुआ है, वह 5 मार्च को बिना शोरगुल के सम्पन्न हुआ है। भारत के सारे भूगर्भीय खनिज पदार्थों को विदेशी कम्पनियों को बेचने का निर्णय भारत सरकार ने उसी दिन किया। बुद्धिजीवी वर्ग के किसी महत्वपूर्ण भाग में इसे लेकर खलबली नहीं मची है। इसी से समझ लेना चाहिए कि पिछलग्गू या पिट्टू होने का चरित्र जब इतिहास को प्रभावित करता है, तब यह चरित्र व्यक्ति चरित्र के रूप में नहीं उभरता है। यह एक वर्ग चरित्र होता है। जयचन्द और जगत सेठ का चरित्र व्यक्ति चरित्र नहीं था। यह वर्ग चरित्र उस समाज की उपज था, जिसमें सामूहिक लक्ष्य का कोई प्रबल मिथक नहीं रह गया था, जब समान नागरिकता की सम्भावना धर्म के अन्दर भी पूरी तरह खत्म हो चुकी थी। वर्तमान भारत के सन्दर्भ में इस वर्ग चरित्र का जन्म राष्ट्रीय मिथक के अभाव में हुआ है। जिन अधिकारों को हथियाने के लिए ईस्ट इण्डिया कम्पनी को इतने सारे युद्ध करने पड़े थे, उन सारे अधिकारों को बेचने के लिये आज दिल्ली का संसद एक सुपर बाजार बना हुआ है। यानी 1757 के भारतीय शासक वर्ग की तुलना में आज के भारतीय शासक वर्ग की राष्ट्रीय भावना अधिक कमजोर है।

राष्ट्रवाद को उग्र राष्ट्रवाद कहकर उसका रचनात्मक उपयोग न करना एक अजीब किस्म का बौद्धिक पलायनवाद है। साम्राज्यवाद से लड़ने का और कौन-सा दूसरा साधन है? देश रक्षा और आर्थिक विकास के दायित्व में जो लोग हैं, वे अपने बच्चों का भविष्य विदेशों में न देखें— इसी देश के अन्दर देखें, इसकी गारंटी और क्या हो सकती है? आनाज की कमी वाले देश में किसानों का ध्यान सिर्फ नकदी लाभकारी फसलों की ओर न जा कर खाद्यान्न

के उत्पादन की तरफ जाये, इसकी प्रेरणा कहाँ से आयेगी? राष्ट्रीयता अगर भावुकता ही है, भावुकता में क्या बुराई है? मनुष्य के व्यवहार में भावुकता की इसलिए जरूरत होती है कि कुछ प्रकार की चुनौतियों का तत्काल, बिना बहस किये, मुकाबला करना पड़ता है। जिन चुनौतियों का मुकाबला तत्काल और सामूहिक ढंग से करना पड़ता है, आनेवाली उन सारी चुनौतियों के लिए भावनायें तैयार रहनी चाहिए। देश के खदानों की मिलिक्रियत विदेशियों को दे देना सही है या गलत है— इसकी बहस करने वाला कभी अपने खदानों की रक्षा नहीं कर पायेगा। मेरी माँ की कुरूपता पर मजाक करने वाले सज्जन को मैं कोई रोषपूर्ण वाक्य कहूँ या न कहूँ— यह लम्बी बहस के बाद तय नहीं हो सकता।

भावनाएँ, संबंध वाली भावनाएँ और सामूहिक भावनाएँ अपने आप में विशुद्ध नहीं होती हैं। भावनाओं को संस्कृति से लैस करना पड़ता है। अलग-अलग स्थान और काल में भावनाओं की अंतर्निहित संस्कृति अलग-अलग होती है। कुछ विचार भावनाओं के अंदर अदृश्य होकर निहित रहते हैं। जैसे हम बढ़िया स्वाद के लिए काला जामुन खाते हैं तो कुछ पौष्टिक तत्व भी उस जामुन के अन्दर रहता है। मेरे खाने की इच्छा से उसका कोई सरोकार नहीं है। चालीस साल पहले भारत में सर्वत्र एक कहावत प्रचलित थी— जिसका बेटा लायक है, वह क्यों संचय करे? जिसका बेटा नालायक है उसको भी संचय नहीं करना चाहिए। क्योंकि नालायक बेटे को कष्ट झेलना चाहिए। यह किसी एक युग की संस्कृति थी, इसके द्वारा पुत्र मोह की भावना या परिवार के लिए संचय करने की भावना को मर्यादित किया जाता था। इस संस्कृति के खत्म होने के बाद पारिवारिक संचय की अमर्यादित वृत्ति समाज और देश के लिए अभिशाप बन गयी है। भावना वही है, लेकिन उसका व्यावहारिक रूप भिन्न है, सारा महाभारत पारिवारिक मोह (पुत्र मोह) को मर्यादित करने की शिक्षा देने वाली अनुपम गाथा है।

राष्ट्रीयता भी ऐसी एक सामूहिक भावना है, जिसकी संस्कृति, जिसका व्यावहारिक रूप अलग हो सकता है। वह एक संकीर्ण भावना होगी या एक उदार भावना होगी, उसका रुझान साम्राज्यवादी होगा या विश्वमैत्री की दिशा

में होगा, उसका अंदरूनी तेवर सामान्य जन के लिए अनुकूल है या एक विशिष्ट वर्ग के हित में है, यह इस पर निर्भर करता है कि समाज का नेतृत्व और बुद्धिजीवी वर्ग राष्ट्रीय भावना को किन नीतियों के साथ जोड़कर अभिव्यक्त करते हैं। गाँधी और रवीन्द्रनाथ ने इसे कुछ खास नीतियों के साथ जोड़कर अभिव्यक्त किया, गोलवलकर और बाल ठाकरे ने भिन्न ढंग से किया। कम्युनिस्ट भी इससे बच न सके, उनकी राष्ट्रीयता पाकिस्तान विरोध के रूप में अभिव्यक्त होती है। साधारण जन देश की अधिकांश समस्याओं को राष्ट्रीय भावना के माध्यम से समझ पाता है। ट्रेड यूनियनों के अधिकांश मजदूर इस वक्त देश की समस्याओं को समझने में असमर्थ हो गये हैं क्योंकि ट्रेड यूनियनों के लिए राष्ट्र कभी एक मुद्दा नहीं बनता है। ट्रेड यूनियननुमा किसान संगठनों का भी बुरा असर किसानों पर पड़ रहा है। किसान समझ नहीं पा रहा है कि अधिक लाभ के लिए ज्यादा रासायनिक खाद डाल कर भारत की मिट्टी को कमजोर बना दे या देसी बीज का इस्तेमाल कर देश की मिट्टी को बरकरार रखे। अगर बुद्धिजीवी वर्ग आत्मनिर्भर कृषि को राष्ट्रीय आत्मसम्मान की नीति के रूप में पेश करेगा तो किसानों की भी राष्ट्र भावना जगेगी और जरूरत पड़ने पर खेती के कठिन उपायों को अपनाने के लिए किसान तैयार हो जायेगा।

नेताओं और बुद्धिजीवियों के न चाहने से राष्ट्रीय भावना खत्म नहीं होगी। किसी न किसी तरह वह अभिव्यक्त होगी। साम्राज्यवाद से बचने के सन्दर्भ में उसे अभिव्यक्त नहीं किया जायेगा, तो इतिहास का बदला लेने के लिए उसका उपयोग होगा। चीन के कब्जे से जमीन छुड़ाने के लिए उसका उपयोग नहीं होता तो श्रीलंका और पाकिस्तान से लड़ने के लिए इसका इस्तेमाल होगा। पूरी आबादी के सन्दर्भ में अगर भावनायें सक्रिय नहीं होंगी, तो किसी क्षेत्र विशेष या समुदाय विशेष की भावना बन कर उसका विस्फोट होगा। जाति, संप्रदाय और क्षेत्र राष्ट्र का विकल्प बन जायेंगे। भारत की सांप्रदायिकता राष्ट्रीयता का ही एक संकीर्ण और विकृत अवतार है।

सांप्रदायिकता और सांप्रदायिक दंगा-दोनों में फर्क है। दंगे के संदर्भ में सद्भावना का कार्यक्रम एक सही कार्यक्रम है। लेकिन सद्भावना सभाओं के

द्वारा सांप्रदायिकता का प्रतिकार नहीं हो सकता। सांप्रदायिकता एक विचारधारा है। यह विकृत राष्ट्रीयता की विचारधारा है। एक बेहतर राष्ट्रीय विचारधारा जो अधिक व्यवहारिक भी हो, उसका एकमात्र और स्थायी प्रतिकार हो सकता है। इस वक्त राष्ट्रीयता को अभिव्यक्त करने का सबसे महत्वपूर्ण और व्यावहारिक संदर्भ आर्थिक नीतियाँ हैं, क्योंकि ये नीतियाँ राष्ट्र और जनसाधारण दोनों के विरुद्ध एक षड्यंत्र हैं। जब-जब राष्ट्रीय भावना और जन-असंतोष की चेतना का संयोग एक ही मुद्दे पर होता है, तब-तब दरिद्र देशों का जनसाधारण देश और वर्ग दोनों के लिए सक्रिय होता है। ऐसे समय में सामान्य नागरिक की राजनैतिक चेतना अधिकतम होती है। मध्य वर्ग का जो हिस्सा संपन्न नहीं है, वह राष्ट्रीय भावना के प्रभाव में जल्दी आता है। इसलिए मध्यवर्ग और किसान मजदूर वर्ग के हितों में भी टकराव कम से कम होता है। संभवतः भारत के राष्ट्रीय आंदोलन में यह संयोग (राष्ट्रीय हित और सामान्यजन के हित का संयोग) पर्याप्त मात्रा में नहीं था, क्योंकि धनी बुर्जुआ वर्ग का स्वार्थ राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़ा हुआ था। लेकिन नयी आर्थिक नीतियों के विरुद्ध संघर्ष करने का मतलब है धनी बुर्जुआ वर्ग के उपभोक्तावाद और मुनाफावाद पर रोक लगाना। आर्थिक राष्ट्रवाद इस समय की राष्ट्रीयता का मुख्य बिंदु बन सकता है, इसे धनी बुर्जुआ वर्ग हतोत्साहित कर रहा है। सांप्रदायिक राष्ट्रवाद और आर्थिक राष्ट्रवाद में से चुनना होगा तो वह प्रथम को चुनेगा। कुछ लोग गलत कहते हैं कि आर्थिक राष्ट्रवाद भारतीय पूँजीपति वर्ग के लिए अनुकूल पड़ेगा। पड़ना चाहिए, पर काश ऐसा होता। पड़ेगा नहीं, क्योंकि भारत का पूँजीपति वर्ग विकास की दीर्घकालीन दृष्टि को मानता नहीं है। तात्कालिक मुनाफा और तात्कालिक उपभोक्तावाद के बाहर और किसी चीज को वह आर्थिक विकास मानने को तैयार नहीं है। मुनाफा और उपभोक्तावाद की तात्कालिकता पर रोक लगाना आर्थिक राष्ट्रवाद का पहला सूत्र होगा।

चुनौती का रूप है : आर्थिक राष्ट्रवाद बनाम धार्मिक राष्ट्रीयता इस सूत्र के अनुसार धार्मिक राष्ट्रीयता (जिसे आडवाणी ने सांस्कृतिक राष्ट्रवाद कहना शुरू किया है) की भूमिका से राव-सिंह सरकार को खुश होना चाहिए। क्या वे खुश हैं? यह कहना गलत होगा कि कांग्रेस धार्मिक राष्ट्रवाद का समर्थक

होने जा रही है या हो गयी है। बात इतनी है कि कांग्रेस इससे खुश है कि आर्थिक राष्ट्रवाद उभर नहीं पा रहा है। सत्ताधारियों के संतोष का कारण कभी-कभी बहुत टेढ़ा (परोक्ष) होता है। इस संतोष के चलते अगर कांग्रेस दुविधाग्रस्त होती है या उसकी सरकार खतरे में पड़ जाती है, तो सत्ता के दलालों का कोई नुकसान नहीं होने वाला है और न सत्ता पर नियंत्रण करने वालों का कोई नुकसान होने वाला है।

कांग्रेस और भाजपा का आपसी विरोध नकली नहीं है। उनके राजनैतिक विचार भिन्न हैं। लेकिन दोनों पर अगर एक ही प्रकार के आर्थिक स्वार्थ हावी हैं तो एक की जीत और दूसरे की हार या दूसरे की जीत और एक की हार से इतिहास को ज्यादा फर्क नहीं पड़ने वाला है। संघ परिवार की सफलता की कसौटी क्या यह है कि केन्द्र में भाजपा की सरकार बन जाये? जो लोग ऐसा सोचते हैं, वे सरलीकरण की गलती करते हैं। भाजपा का प्रधानमंत्री बने, इसके लिए भाजपा नेताओं में जितनी आतुरता होगी, संघ परिवार के अन्य घटकों के नेताओं में उतनी आतुरता नहीं होगी। उनकी आतुरता सिर्फ इसलिए होगी कि देश में एक खास प्रकार की सामाजिक-सांस्कृतिक स्थितियाँ पैदा हों। अगर कांग्रेस की आर्थिक नीतियों के परिणामस्वरूप धार्मिक असहिष्णुता और सामाजिक तनाव बढ़ते हैं, पूरी व्यवस्था में ब्राह्मण-बनिया वर्चस्व भी बढ़ता है, तो संघ परिवार के नेतृत्व में कांग्रेस के साथ सहअस्तित्व का एक विचार भी पैदा हो सकता है।

संघ के विचारक तीक्ष्ण बुद्धि के हैं। भाजपा का प्रधानमंत्री बनाने की जल्दबाजी उन्हें नहीं। संघ परिवार की विचारक मंडली में कुछ साहब-बुद्धिजीवी आ गये हैं, जो पहले नहीं होते थे। भाजपा का प्रधानमंत्री बनाने की जल्दबाजी उन्हें भी नहीं है। राजनीति पर जिस अनुपात में नियंत्रण होने से एक खास प्रकार की सामाजिक-सांस्कृतिक स्थिति पैदा की जा सकी है और आर्थिक राष्ट्रवाद की हरकतों को रोका जा सकता है, उस अनुपात की राजनैतिक शक्ति हासिल करना इस वक्त संघ परिवार का लक्ष्य होगा। अगर भाजपा की एकदलीय सरकार लम्बे समय तक केन्द्र में नहीं बनती है तो हर्ज नहीं है। बनना आसान भी नहीं है। केन्द्र में भाजपा की सरकार एकाएक बन

जाने से कई तरह की तीव्र प्रक्रियाएँ हो सकती हैं। अतः कांग्रेस-भाजपा के सहअस्तित्व की संक्रमणकालीन रणनीति ज्यादा फायदेमंद हो सकती है। इस संक्रमण काल में कमजोर और बूढ़ी कांग्रेस कुछ गैर कांग्रेसी समूहों का कलेजा खाकर ही जीवित रह सकती है। गैरकांग्रेसी समूहों को अपनी आर्थिक नीतियों में फँसाने के लिए वह अपनी कमजोरी और बूढ़ेपन का बहाना भी कर सकती है। (जून, 1993)

